जैन भारती

सितंबर 2012 • वर्ष 60 • अंक 9 • वार्षिक रु. 200.00

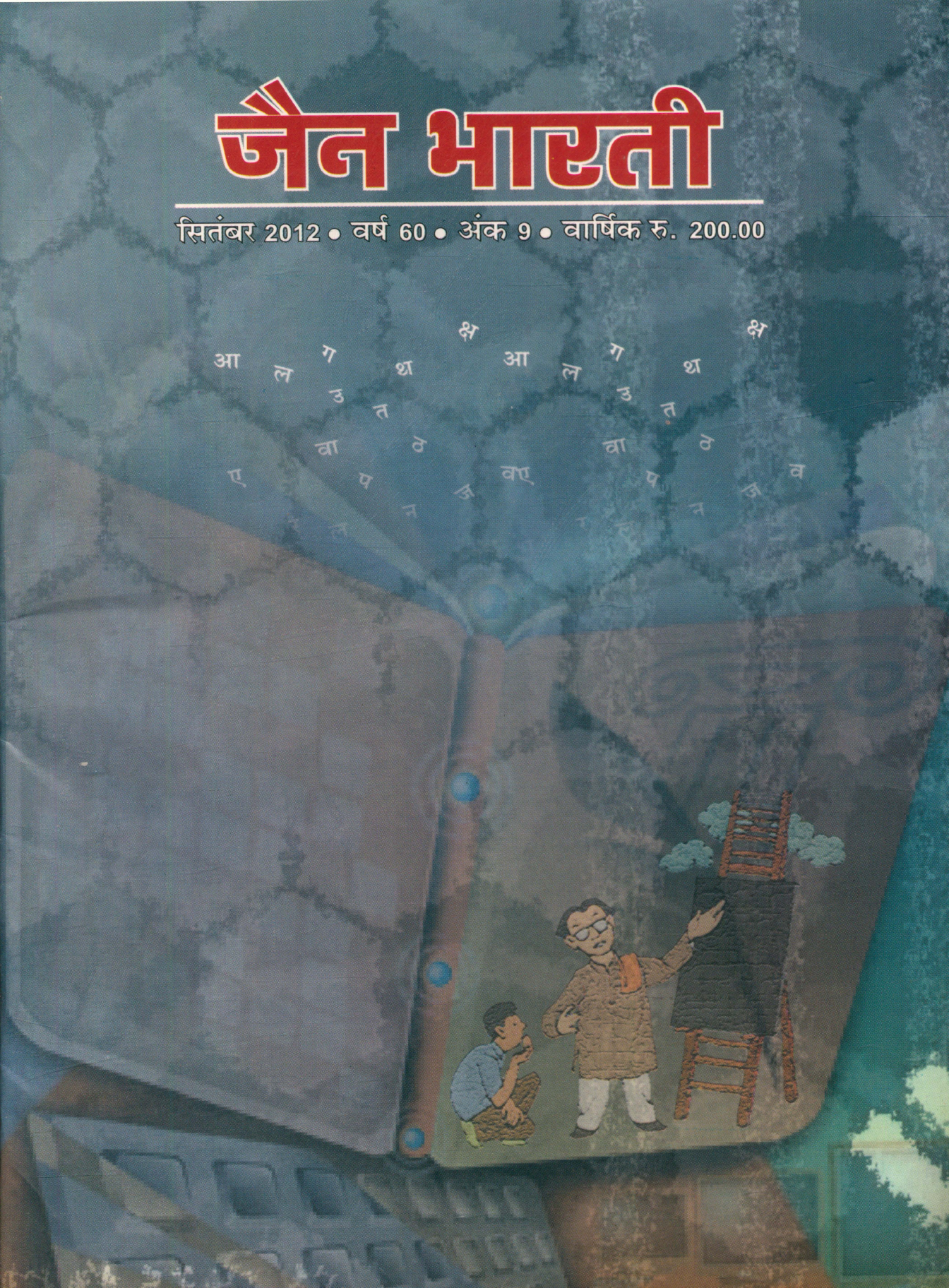

SKF

Authorized Stockist

Manish Enterprises

Authorised Stockist : SKF Bearings

Sales & Admin. Off.
20, Netaji Subhash Road
(Gr. Floor) Kolkata 700001

Phone : 22102413, Telefax : 22102414, Mobile : 98300 65260

E-mail : manish.brg@gmail.com
Website : www.manishenterprises.net

Amar Chand Bardia
Sushil Kumar Bardia
Manish Bardia

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 60 • सितंबर, 2012 • अंक 9

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
बुद्धि-भर से नहीं; मन का प्रशिक्षण हो शिक्षा का असली अंग

15
राजेंद्रपाल सिंह
शिक्षा का सवाल चाहिए कठोर निर्णय

19
साध्वी पुण्ययशा
स्तवन : भक्ति नहीं, व्यक्ति नहीं; आंतरिक विकास

25
मुनि किशनलाल
मन् : कैसे हो सम्यक् नियोजन; कैसे पहचानें

•

आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

31
आचार्यश्री महाश्रमण
परमसुखी बनें; आसक्ति छोड़ें, आत्मवाद पर सोचें

35
साध्वी कल्पमाला
शिक्षा : लक्ष्य हो जीवन को अच्छा बनाना

38
साध्वी जयमाला
सुख : बदलें जिंदगी को देखने का अंदाज

40
कहानी
भगवती नौटियाल
पलायन तो उड़ना होता है

44
कविता
सरोजकुमार की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
मन की शिक्षा के लिए—चित्त की निर्मलता, प्राण की शक्ति

शीलन

47
कु. बरखा थानवी
शिक्षा और स्वाध्याय : मिलता है आनंद; अनुभव की मंजिलें

50
साध्वी कनकरेखा
अहिंसा : जीवन का विश्वस्त सुरक्षा कवच

54
बालकथा
बी. आर. भागवत
नंदू, फास्टर फेणे और शरारत

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

मुनि वस्त्र कैसे रख सकता है?

ढूंढाड़ प्रदेश में स्वामी भीखणजी के पास कुछ सरावगी चर्चा करने के लिए आए और बोले—'मुनि धागे जितना भी वस्त्र नहीं रख सकता। जो रखते हैं, वे परीषह से दूर भागते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'परीषह कितने हैं?'

तब वे बोले—'परीषह बाईस।'

तब स्वामीजी बोले—'पहला परीषह कौन-सा है।'

तब वे बोले—'पहला परीषह भूख का है।'

स्वामीजी ने पूछा—'तुम्हारे मुनि आहार करते हैं या नहीं?'

तब वे बोले—'दो दिन से एक बार करते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'तुम्हारे मुनि तुम्हारे ही हिसाब से दूसरे परीषह से भी पराजित हो गए।'

तब वे बोले—'वे प्यास लगने पर पानी पीते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'हम भी सर्दी आदि से बचने के लिए वस्त्र ओढ़ते हैं। और यदि भूख लगने पर अन्न, प्यास लगने पर पानी पीने से वे परीषह से पराजित नहीं होते हैं, तो ठंड आदि से बचने के लिए वस्त्र रखने पर हम भी परीषह से पराजित नहीं होते।'

इस तरह अनेकविध चर्चा से वे निरुत्तर हो गए।

तुम लड़ने की दृष्टि से आए लगते हो

फिर दूसरे दिन वे बहुत से इकट्ठे होकर आए। स्वामीजी शौचार्थ जंगल जा रहे थे। वे सामने मिले और टेढ़े होकर बोले—'हम तो चर्चा करने आए और आप शौच के लिए बाहर जा रहे हैं?'

उनके चेहरों की भाव-भंगिमा देखकर स्वामीजी बोले—'आज तो तुम लड़ने की दृष्टि से आए लगते हो।'

तब वे बोले—'आपको इस बात की कैसे खबर पड़ी?'

स्वामीजी बोले—'हममें अवधि आदि अतींद्रिय ज्ञान तो नहीं है, फिर भी तुम्हारे चेहरे की भाव-भंगिमा देख कर हमने कहा।'

तब वे सच बोले—'हम आए तो लड़ने की दृष्टि से ही थे, दान-दया की चर्चा करनी थी।'

तब स्वामीजी बोले—'दान-दया के उत्तर तो बहुत लिखे पड़े हैं। चर्चा तो कल वाली ही कड़ी थी।'

बाद में उनमें से कुछ लोग चर्चा कर स्वामीजी की शरण में आ गए। ●

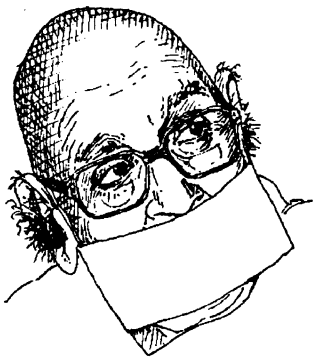

14 सितंबर : हिंदी दिवस
अवसर विशेष

सामान्यतः शिक्षा का संबंध जीविका के साथ जोड़ दिया जाता है, जबकि शिक्षा जीवन के लिए अनिवार्य तत्त्व है। जहां जीविका को प्रधानता मिलती है, वहां विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा का महत्व बढ़ जाता है। तब नैतिकता एवं चरित्र के तत्त्व गौण हो जाते हैं। उस बिंदु पर जाकर शिक्षा बड़ी ही दयनीय बन जाती है, यदि वह जीविका भी नहीं जुटा पाए। न जीवन और न जीविका—ऐसी शिक्षा राष्ट्र के लिए अभिशाप बन सकती है। जीवन-मूल्यों से अपरिचित ऐसे बहुत से विद्यार्थी हैं, जो बेरोजगारी की राह पर खड़े हैं और न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए तरस रहे हैं। ऐसे समय में शिक्षानीति या शिक्षा पद्धति की सार्थकता पर कुछ प्रश्नचिह्न खड़े हो जाते हैं। ऐसी शिक्षा समाज की अपेक्षाओं और बुनावट पर ध्यान दिए बिना विद्यार्थी पर पुस्तकों और 'डिग्रियों' का भार ही लाद रही है।

विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की लंबी कतारें देश के शैक्षणिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए कटिबद्ध हैं, पर स्तर की परिभाषाएं अलग-अलग हैं। एक दृष्टि से आज का विद्यार्थी अतीत की अपेक्षा अधिक विषय पढ़ता है। वह देश-विदेश की हर गतिविधि से भी परिचित रहता है। कई क्षेत्रों में उसने अपनी दक्षता भी बढ़ाई है, किंतु कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो स्तर को उठाने की अपेक्षा नीचा करने वाली प्रमाणित हो रही हैं। जैसे—हिंदी का शुद्ध लेखन और उच्चारण एक स्नातक और स्नातकोत्तर विद्यार्थी के लिए कठिन हो रहा है—यह विचारणीय मुद्दा है।

—आचार्यश्री तुलसी

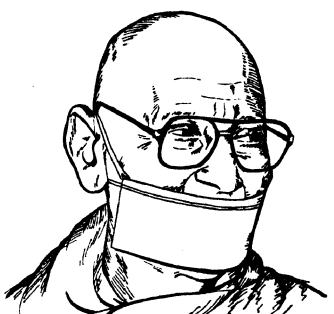

जो व्यक्ति मरना सीख लेता है, वह संबंधातीत चेतना में चला जाता है। भगवान महावीर ने जीने की कला बताई या नहीं, पर मरने की बहुत सुंदर कला उन्होंने बतलाई है। जो व्यक्ति मृत्यु के प्रति सावधान होता है, अच्छी मौत से मरना चाहता है—वह अपने आप सुंदर जीवन जीता है। जो मृत्यु की चिंता नहीं करता, जो पंडित मरण या समाधि मरण की कामना नहीं करता—उसका जीवन शांतिपूर्ण या समाधिपूर्ण नहीं हो सकता। जीवन और मरण, दोनों परस्पर गुंथे हुए हैं। इनको अलग-अलग करके हम नहीं देख सकते, व्याख्या नहीं कर सकते। हमारे जीवन का ऐसा कौन-सा क्षण है—जो जीवन का क्षण तो है और मौत का क्षण नहीं है। आदमी जब से जन्मा है, तब से ही मरना प्रारंभ कर दिया। पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'आवीचिमरण' कहा जाता है। एक होता है—मरणांतिक मरण। यह अंतिम मृत्यु है। आवीचिमरण क्षण-क्षण में होने वाला मरण है। जीवन और मृत्यु का क्षण अलग नहीं है। चढ़ने और उतरने की सीढ़ियां दो नहीं होतीं। जिन सीढ़ियों से चढ़ा जाता है, उन्हीं सीढ़ियों से उतरा जा सकता है। जिन सीढ़ियों से उतरा जाता है, उन्हीं से चढ़ा भी जा सकता है। केवल आरोहण और अवरोहण का अंतर है। जीवन और मरण में कोई अंतर नहीं है, पर इस विषय में हमारी मूर्च्छा है। हम केवल संबंध को ही जानते हैं। हमें विसंबंध को भी जानना चाहिए।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

शिक्षाशील व्यक्ति की यह विशेषता होनी चाहिए कि वह सत्य में रत रहे। सत्य की खोज में जो लगा रहता है, सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयत्न करता रहता है, जिज्ञासा और तर्क के माध्यम से यथार्थ को समझने का प्रयास करता है—वह **'सच्चरए'** कहलाता है। एक विद्यार्थी को जितना सत्यग्राही होना चाहिए, उतना सत्याग्रही भी होना चाहिए। सत्य के पथ पर चलने वाला शिक्षाशील व्यक्ति ईमानदारी के प्रति भी आस्थावान होता है। महात्मा सुकरात ने लिखा है—जो सत्य के लिए उत्सर्ग करने को तैयार रहता है, वह ईमानदार होता है। ऋजुता और ईमानदारी—ये दो मूल चीजें हैं। प्रमाद कहीं भी, कभी भी और किसी से भी हो सकता है, किंतु यदि ऋजुता है, ईमानदारी है—तो प्रमाद का परिष्कार किया जा सकता है। गांधीजी जब विद्यार्थी थे, तो 'इंस्पेक्टर' महोदय का निरीक्षण हुआ। उन्होंने विद्यार्थियों को अंग्रेजी के पांच शब्द लिखने के लिए दिए। गांधीजी ने एक शब्द गलत लिख दिया, तब कक्षा अध्यापक ने संकेत किया कि पास वाले विद्यार्थी की कापी में झांक कर ठीक कर लो। परंतु, गांधीजी ने वैसा नहीं किया। बाद में अध्यापक ने गांधीजी से पूछा—मेरे इशारा करने पर भी तुमने शब्द को सुधारा क्यों नहीं? गांधीजी ने कहा—'मैं मूर्ख कहलाना मंजूर कर सकता हूं, परंतु अप्रामाणिकता को स्वीकार नहीं कर सकता।' ईमानदारी के प्रति अटूट आस्था का यह एक उदाहरण है।

जिस विद्यार्थी में उपरोक्त बात होती हैं—वही शिक्षाशील हो सकता है। एक बच्चा भी शिक्षाशील हो सकता है और अवस्था प्राप्त व्यक्ति भी हो सकता है। जब तक व्यक्ति ज्ञान ग्रहण करता रहता है, तब तक वह विद्यार्थी या शिक्षाशील बना रह सकता है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

शिक्षक दिवस (5 सितंबर) : अवसर विशेष को ध्यान में रखते हुए

जैन भारती
सितंबर, 2012

प्रसंग

मन की शिक्षा के लिए—चित्त की निर्मलता, प्राण की शक्ति

यह कौन नहीं मानेगा कि देश और दुनिया ने जो प्रगति की है, वह उल्लेखनीय है और यदि ऐसा न होता तो अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता। तब जीवन जीने की जटिलताएं बढ़तीं, आपा-धापी, छीना-झपटी और विकृतियां अपार होतीं। पर, ये सब आज पूरी तरह समाप्त ही हो गई हैं, ऐसा मानना भी कठिन है। बल्कि, इन सबका जो रूप हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसके चलते यह भी कहा जाता रहा है कि वर्तमान प्रगति ही इसके मूल में है।

यह तो सर्वसम्मत है कि इस प्रगति का सबसे बड़ा आधार हमारी वर्तमान शिक्षा रही है। इस शिक्षा ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो प्रगति की है, उसके ही बल पर वर्तमान विकास का ढांचा खड़ा हो पाया है। जो भौतिक विकास इससे सामने आया है, वह यदि न होता तो विषमताओं का एक दूसरा ही रूप होता। वह रूप कैसा होता, यह कहना कठिन है। लेकिन, विषमताओं की विकरालता आज कम नहीं है। इन विकरालताओं के न रहने का कोई उपाय भी दुर्भाग्य से हमारे सामने नहीं है। कहना चाहिए कि शिक्षा का जो वर्तमान ढांचा आज हमारे सामने है—उसमें इन विकरालताओं के उत्तर हम नहीं तलाश कर सकते।

यहीं पर हमें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी याद आते हैं। शिक्षा पर उनका चिंतन एकांगी नहीं है। वे शिक्षा के वर्तमान ढांचे को पूरी तरह से नकारते नहीं हैं, जैसा कि अनेक चिंतक यह करते हुए नजर आते हैं। यह भी मजे की बात है कि ऐसे चिंतक इसी ढांचे से ही निकले हैं। फिर वे ऐसे निकले कैसे? यह कहा जा सकता है। और, यह भी विदित ही है कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी वर्तमान शिक्षा से नहीं निकले हैं। वे इस शिक्षा की पैदाइश नहीं हैं। प्रारंभिक शिक्षा के लिए जब माता-पिता बच्चे को विद्यालय में दाखिला देते हैं, उसी अवधि में उन्होंने 'साधना' का मार्ग अंगीकार कर लिया था। कोई साल-दो-साल किसी 'स्कूल' में गए भी हों तो पता नहीं, पर वे कहते यही रहे हैं कि उनकी शिक्षा-दीक्षा 'तुलसी पोसाळ' में हुई है। एक बार किसी विद्वत सभा में उनके ज्ञान व प्रज्ञा से विस्मित कुछ विश्वविद्यालयी 'प्रोफेसर्स' पूछ बैठे कि—'आप किस विश्वविद्यालय के 'पास-आउट' हैं'—तब उन्होंने संकेत भी किया और कहा भी कि—'तुलसी विश्वविद्यालय का'—'यह कहां है'—उनका प्रश्न था और उत्तर में उन्होंने वहीं विराजमान आचार्यश्री तुलसी की ओर संकेत करते हुए कहा—'वहां।' वे 'प्रोफेसर्स' चकित थे। विस्फारित नेत्रों से उनको निहारते रहे।

तो ऐसे आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'एक प्रश्न है—बदलने के हजारों प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी निष्पत्ति क्यों नहीं आती? इसका एक ही कारण है कि हमने बदलने को शिक्षा का अंग नहीं माना। आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है, पर मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तेज होती है। उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है, पर बेचारी बुद्धि क्या करेगी? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं, वे सब मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ नहीं है। मन को शिक्षित किए बिना इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जिस 'मन की चंचलता' की बात यहां कहते हैं, वह किसी बाल-सुलभ मन की चंचलता की बात नहीं है, जो कई तरह के संतापों को हर लेती है। यहां वे उन 'विकारों और विकृतियों' से जोड़कर यह बात कह रहे हैं, जिनका सामना देश और दुनिया आज कर रहे हैं और कोई समाधान निकल नहीं रहा। यहां वे बुद्धि—बौद्धिकता—की

असहाय अवस्था की ओर संकेत करते हैं और विकारों का कारण 'मन' को बताते हैं। ठीक भी है कि बुद्धि एक अस्त्र की तरह है और हम देख रहे हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी से विनाश के 'सरंजाम' भी पैदा हो रहे हैं, तो इसीसे विकास के आयाम भी तय हुए हैं। अतः यह ठीक ही है कि—'मन को शिक्षित किए बिना इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी शिक्षा के प्रश्न पर (देखें, विस्तृत आलेख पृष्ठ 11-14 पर) आगे कहते हैं—'आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सब विषय आ गए, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं आया। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता, तब तक यदि हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें—यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, मन को शिक्षित करना। आज की शिक्षा प्रणाली में यही एक सबसे बड़ी कमी है, उसमें इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। आदमी को उसकी भीतरी शक्तियों से परिचित नहीं कराया जाता। कोई भी विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके भीतर ऐसी शक्ति भी है, जो ऐसे समय में काम दे सकती है, जहां शरीर की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। आज के विद्यार्थी को अपनी प्राण शक्ति पर भी भरोसा नहीं है, जानकारी नहीं है। यह देखा जाता है कि एक कमजोर व्यक्ति भी किसी एक शक्ति के आधार पर ऐसा काम कर लेता है, जिस शक्ति के अभाव में एक हट्टा-कट्टा आदमी भी नहीं कर पाता। शरीर-बल ही सबकुछ नहीं है। शरीर के आधार पर व्यक्तित्व का और शक्ति का निर्धारण नहीं हो सकता। एक पतला-दुबला आदमी किसी हट्टे-कट्टे आदमी से भिड़कर उसे नीचे गिरा देता है। गिराने वाली शक्ति शरीर की नहीं होती, वह होती है—प्राण की। आज की शिक्षा पद्धति में प्राण की शक्ति का कोई प्रशिक्षण नहीं है। उस पर विचार भी नहीं किया गया है।'

जिस पर विचार नहीं किया गया है, उस पर अब विचार किया जाना चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ही उत्तराधिकारी हैं—आचार्यश्री महाश्रमणजी। उनके नेतृत्व में इस पर विचार हो सकता है। पिछले दिनों जसोल (बाड़मेर जिला) में—जहां आचार्यश्री महाश्रमणजी का चातुर्मास प्रवास है—शिक्षा से जुड़े कतिपय सज्जनों की एक बैठक हुई बताई। ये वे लोग थे, जो तैरापंथ या आचार्यश्री महाश्रमणजी की रीति-नीति से करीब से जुड़े हैं। ऐसी शिक्षण-संस्थाओं के प्रमुखों से यह अपेक्षा स्वाभाविक है, जिनका संकेत हमने इस 'प्रसंग' में किया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मन को शिक्षित करने तथा 'प्राण शक्ति के प्रशिक्षण' की जो बात कहते रहे हैं—वे सब इन शिक्षण-संस्थाओं में आसानी से संभव हैं। इन शिक्षण-संस्थाओं में ऐसा प्रशिक्षण हो और इनके निष्कर्ष सामने आएं—यह जरूरी है।

पिछले ही दिनों जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा की ओर से देश भर की स्थानीय सभाओं का 'सभा प्रतिनिधि सम्मेलन' भी जसोल में हुआ था। देश भर के आठ सौ प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया। श्रद्धा और भक्तिभाव अपनी जगह ठीक है, वह होता रहे। पर, इसके सामाजिक प्रतिफल भी सामने आएं तो नतीजे अधिक बेहतर माने जा सकते हैं। स्वयं आचार्यश्री महाश्रमणजी ने इस सम्मेलन में जो कहा—हमें उसे देखना चाहिए। उनके कथन के निष्कर्षों में ध्वनित बातें समझने की जरूरत है। उन्होंने जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय को शिक्षा का अच्छा माध्यम बताया है। शिक्षा के प्रसंग पर आचार्यश्री महाश्रमणजी ने जो कुछ कहा है, वह जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय के लिए बड़ा मूल्यवान है। उसकी मूल्यवत्ता बढ़े—यह सोचना आवश्यक है। इस दिशा में गहन विचार मंथन होना चाहिए। आचार्यश्री महाश्रमणजी प्रकारांतर से इस विश्वविद्यालय के दिशाबोधक हैं। अतः यह अपेक्षा सहज है कि वे इस आशय का बोध विश्वविद्यालय को दें।

अपेक्षा इतनी ही नहीं है, यह भी अपेक्षा है कि ऐसे स्वैच्छिक संगठन और महीजन, जो शिक्षा के सवालों से दो-चार होते रहते हैं, वे भी इस दिशा में सोचें। एक नाम इस समय बार-बार दिमाग को कौंध रहा है। वे हैं श्री देवेंद्रराज मेहता (डी.आर.मेहता)। भगवान महावीर विकलांग सहायता समिति के संस्थापक रहे हैं—मेहताजी। जयपुर में 'प्राकृत भारती' नाम की एक संस्था के भी वे प्रधान हैं। हाल ही में 'राजीव गांधी राष्ट्रीय सद्भावना पुरस्कार-2012' से उनको सम्मानित किया गया है। प्रधानमंत्रीजी ने उनकी सेवाओं की सराहना की है। ये लोग और ये संस्थाएं 'शिक्षा के प्रसंग' पर कुछ ठोस सोचें तो बेहतर हो।

देश में 'शिक्षा का अधिकार' (आरटीई) कानून भी लागू है। यह कानून उन मंशाओं को पूरा करे, जो हमारे सामाजिक ढांचे को सुदृढ़ करता हो। शिक्षक दिवस जैसे अवसर पर यह देखना जरूरी है। बस।

—शुभू पटवा

[सितंबर माह शिक्षा की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। 5 सितंबर (शिक्षक दिवस), 8 सितंबर (विश्व साक्षरता दिवस) और 14 सितंबर (हिंदी दिवस) है। **जैन भारती** का यह अंक इसे ध्यान में रख तैयार किया गया है। 11 सितंबर आचार्य विनोबा भावे की जन्म जयंती है। वे 'आचार्यकुल' के संस्थापक रहे हैं। ये सभी अवसर हमें शिक्षा पर विचार का मौका दे रहे हैं। —सं.]

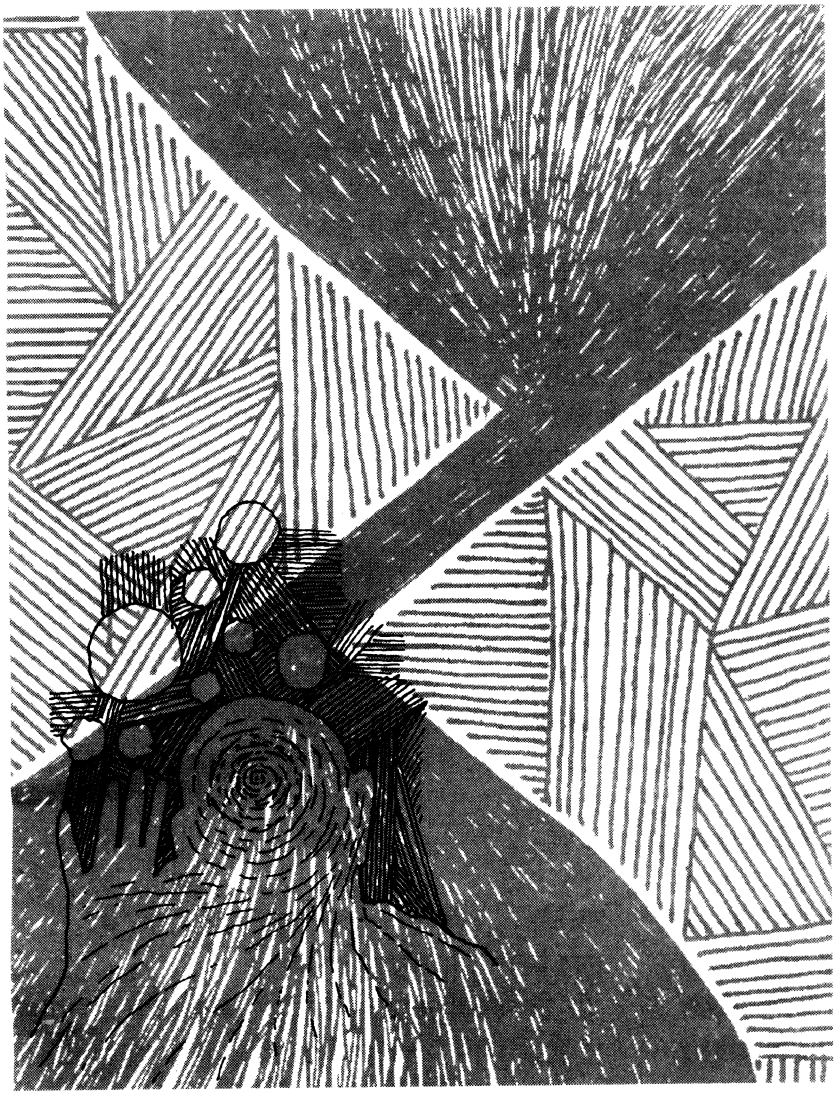

विमर्श

यह दुर्भाग्य की बात है कि मनुष्य का विश्वास आज अपने-आप से उठता जा रहा है। हम अपने-आपको असहाय समझ रहे हैं। लगता है कि हम पहल करने और निर्णय लेने की अपनी क्षमता खोते जा रहे हैं। हम एक ऐसे युग में रहते हैं, जो निरुद्देश्य है, जो चिंतित तो है, लेकिन आश्वस्त नहीं है और जो अतीत तथा भविष्य के प्रति डांवांडोल है। मानव-मन आज अपने-आप से संघर्षरत है। न तो हम बुराई का चुनाव करते हैं और न ही उसे स्वीकारते हैं, बल्कि वह हमारा चुनाव करती है। हम में धीरे से घुस जाती है और हमें खोखला कर डालती है। इसकी वजह है कि मनुष्य एक रचनात्मक व्यक्ति नहीं रहा है। वह एक ऐसा पदार्थ होकर रह गया है, जिसको गैर-व्यक्तिगत ताकतें आकार प्रदान करती हैं। यह मनुष्य की आत्मपराजय है।

—डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन्

5 सितंबर : जन्म जयंती : विशेष

'आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है, पर मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तेज होती है। उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है, पर बुद्धि-भर से क्या होगा? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं—वे सब तो मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ ही नहीं है। अतः मन को शिक्षित किए बिना, इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सभी विषय हैं, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं है। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता, तब तक यदि हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें—यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है—मन को शिक्षित करना।'

❑❑

बुद्धि-भर से नहीं; मन का प्रशिक्षण हो शिक्षा का असली अंग

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

भाषा और मन—ये दोनों विकास के माध्यम हैं। मन से स्मृति, कल्पना और चिंतन होता है। मनुष्य में विकसित स्मृति है, विकसित कल्पना है और विकसित चिंतन है। इसलिए वह विशिष्ट माना जाता है। पशु में भाषा है, पर स्पष्ट नहीं है। उसमें चिंतन भी है, पर तात्कालिक है, बहुत लंबा चिंतन नहीं है। मनुष्य की भाषा स्पष्ट है और चिंतन भी विकसित है। हम ध्यान के द्वारा अतीत की स्मृति को कम करने का प्रयत्न, भविष्य की कल्पना को छोड़ने का प्रयत्न और वर्तमान में होने का, जीने का प्रयत्न करते हैं। प्रश्न है, क्या हम फिर उलटा चल रहे हैं? भाषा और चिंतन का जो विकास हमें प्राप्त हुआ है, उससे उलटा चल रहे हैं? हम मौन का अभ्यास कर रहे हैं, विकल्पों को कम करने का अभ्यास कर रहे हैं—तो क्या यह विकास की प्रक्रिया है? यदि भाषा न हो, चिंतन न हो और यदि वह अच्छी स्थिति मानी जाए तो अविकसित प्राणी बहुत अच्छे हैं। उनमें भाषा और चिंतन कहां है? वनस्पति जीवों में, कीड़े-मकोड़ों में भाषा कहां है? चिंतन कहां है? क्या हम प्राप्त विकास को अवरुद्ध कर देना चाहते हैं?

कुछ अनछुए, अनसुलझे सवाल
शिक्षक दिवस विशेष
5 सितंबर

क्या यह अच्छा नहीं होता कि हमें भाषा उपलब्ध ही नहीं होती? मन भी प्राप्त नहीं होता और क्या यह भी अच्छा नहीं होता कि हम मनुष्य ही नहीं होते? जब हम मनुष्य हो गए हैं, हमें भाषा और चिंतन का विकास प्राप्त हो गया है, तो फिर उसे रोकने का प्रयोजन ही क्यों? उससे उलटे चलने का अर्थ ही क्या है? हमें प्रवृत्ति के जो स्रोत मिले हैं, उन्हें निवृत्ति की ओर क्यों ले जाएं?

भारत में चिंतन की दो धाराएं सदा रही हैं। एक है—प्रवृत्तिवाद और दूसरी है—निवृत्तिवाद। प्रवृत्ति और निवृत्ति—यह वस्तु-तत्त्व का स्वाभाविक पक्ष है। इसका

अनुभव किया गया, किंतु अनुभव की बात जब बुद्धि के स्तर पर चर्चित होती है, तब उसकी सूक्ष्मता समाप्त हो जाती है। केवल स्थूलता बच रहती है। सारे दर्शन-जगत में यही हुआ है, स्थूल तत्त्व उभर कर सामने आ गए और जो रहस्य थे, सूक्ष्मताएं थीं—वे नीचे ही छिपी रह गईं। प्रवृत्ति और निवृत्ति भी विवाद का विषय बन गया, जबकि इनमें विवाद जैसा कुछ नहीं है। यह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। न केवल मानवीय जीवन की, अपितु संपूर्ण प्राणी जगत की, चेतन जगत की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इतना ही नहीं, यह जड़ जगत की भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक पदार्थ में जड़ या चेतन, दो पक्ष होते हैं—'पॉजिटिव' और 'नेगेटिव'—विधायक और निषेधक। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं होती, जिसमें ये दोनों न हों। विधायक पक्ष हमारी प्रवृत्ति है और निषेधक पक्ष हमारी निवृत्ति है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन अपेक्षित है। जहां कहीं यह संतुलन बिगड़ता है, वहां कठिनाई पैदा हो जाती है। कोरी प्रवृत्ति पागलपन की ओर ले जाती है। कोरा काम आदमी को निकम्मा बना देता है। अनेक लोग प्रवृत्ति में बहुत विश्वास करते हैं, पर वे प्रवृत्ति करते-करते अपनी शक्ति को इतना खर्च कर डालते हैं कि अतिप्रवृत्ति उनके लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन जाती है। इसी तरह कोरी निवृत्ति भी निकम्मापन लाती है। जब शरीर है, तो केवल निवृत्ति से काम नहीं चल सकता। सक्रियता और निष्क्रियता, चिंतन और अचिंतन, विचार और निर्विचार, विकल्प और निर्विकल्प, स्मृति और विस्मृति, भाषा और अभाषा—इन सबका संतुलन अपेक्षित है। हमारा प्रयत्न विकास की प्रतिगामी दिशा में जाने का नहीं होना चाहिए। हमारा सारा प्रयत्न विकास की अग्रिम मंजिल तक जाने का होना चाहिए। जिसके पास क्रियात्मक मन है, चिंतन की अच्छी शक्ति है, भाषा पर जिसका अधिकार है—हमने यही सीमा मान ली, पर यह विकास की अंतिम सीमा नहीं है। इससे आगे भी बहुत विकास किया जा सकता है। उसकी बहुत संभावना है, परंतु उस संभावना का द्वार तब तक नहीं खुलता, जब तक हम भाषा और मन को समाप्त करने की स्थिति तक नहीं पहुंच जाते। भाषा का न होना, चिंतन का न होना अविकसित दशा है, किंतु भाषा के होने पर और चिंतन के होने पर भी उनका प्रयोग न करना, विकास की दिशा में पहला प्रस्थान है। जो व्यक्ति अपनी चेतना के नए आयामों को खोलना चाहता है, अपनी चेतना को विस्तार देना चाहता है—उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मन होते हुए भी अमन की स्थिति का अनुभव करे। वाक् होते हुए भी अवाक् का अनुभव करे। जब भाषा और मन का प्रयोग रुकता है, तब चेतना का नया द्वार खुलता है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो शिक्षा प्राप्त कर सकता है, शिक्षित हो सकता है। दूसरे प्राणी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। पर, मनुष्य जाति भी दो श्रेणियों में है। जो मनुष्य भाषा पर अधिकार जमाए हुए है और जो विषयों को अपनी बुद्धि के भरोसे सौंप देता है—वह शिक्षित श्रेणी में आता है। दूसरी श्रेणी है—जिसका भाषा पर कोई अधिकार नहीं, जिसका बुद्धि-वैभव शून्य है—वह अशिक्षित श्रेणी में आता है। शिक्षा को सब लोग ज़रूरी मानते हैं। इसलिए कि यदि समाज में रहना है, समाज में जीना है तो शिक्षित होना जरूरी है। मनुष्य को भूख लगती है, प्यास लगती है, उसमें काम की वासना भी जागती है और इन सबकी पूर्ति के लिए आदमी को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। उसके लिए गणितशास्त्र और व्यापारशास्त्र का अध्ययन जरूरी है। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबका अध्ययन आदमी इसलिए करता है कि उसकी भूख मिट सके। इस आधार पर कहा जाता है कि जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक होने वाली विद्याओं का अध्ययन करता है—वह शिक्षित है। ये सारी बातें शिक्षा की सीमा में आ गईं। किंतु, अपने बारे में भी कुछ जानना जरूरी है, ऐसी धारणा सामाजिक जगत में अभी तक नहीं बनी है। पता नहीं, यह कैसे हुआ कि आदमी का ध्यान निमित्तों पर अटक गया। उसने उपादान को भुला दिया।

आज सबसे बड़ी समस्या है—उपादान और निमित्त की। आज का आदमी निमित्तों को बदल कर सबकुछ करना चाहता है। वह उपादान की ओर ध्यान ही नहीं देता। जब तक निमित्तों को बदलने की बात सामने रहेगी, तब तक कोई न कोई कार्य आदमी के समक्ष रहेगा ही। एक निमित्त बदलता है, दूसरा सामने आकर उपस्थित हो जाता

है। फिर उसे बदलते हैं, तीसरा उभर आता है। इनका कहीं अंत नहीं आता। उपादान को बदले बिना स्थाई बदलाव घटित नहीं होता। यही कारण है कि हजार प्रयत्न करने पर भी आदमी नहीं बदलता। कैसे बदले? भाषा और विचार की अपनी सीमा है। विचार व्यक्ति को प्रेरित करता भी है और नहीं भी करता। भाषा व्यक्ति को प्रेरित करती भी है और नहीं भी करती। अपनी-अपनी सीमा है। यह बदलने का निश्चित उपाय नहीं है। फिर भी कुछ बदलता है, किंतु जितनी मात्रा में बदलना चाहिए—उतना नहीं बदलता। इसका कारण स्पष्ट है। जिस बिंदु पर आदमी बदलता है, उस बिंदु तक भाषा नहीं पहुंचती, उपदेश नहीं पहुंचता। बदलने का बिंदु बहुत गहरे में है और भाषा तथा विचार ऊपरी सतह तक ही पहुंच पाते हैं। इस स्थिति में बदलाव कैसे हो?

जब तक चित्त को स्थिर नहीं किया जाता, मन की चंचलता को कम नहीं किया जाता, तब तक जो भीतर में पहुंचना चाहिए—वह नहीं पहुंचता। बदलने की और विकास की क्रिया का पहला सूत्र है—मन को शांत-स्थिर करना। मन की ऐसी स्थिति का निर्माण हो, जिसमें चिंतन भी नहीं, कल्पना की तरंग भी नहीं और स्मृति का एक कण भी नहीं। स्मृति-मुक्त, कल्पनामुक्त और चिंतनमुक्त हो। यह होने पर भीतर तक जाने वाला प्रत्येक मार्ग साफ हो जाता है। उसमें कोई अवरोध नहीं रहता।

एक प्रश्न है—बदलने के हजारों प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी निष्पत्ति नहीं आती। इसका एक ही कारण है कि हमने बदलने को शिक्षा का अंग नहीं माना। आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है, पर मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तेज होती है। उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है, पर बुद्धि-भर से क्या होगा? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं—वे सब तो मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ ही नहीं है। अतः मन को शिक्षित किए बिना, इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सभी विषय हैं, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं है। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता, तब तक यदि हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें—यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है—मन को शिक्षित करना। आज की शिक्षा प्रणाली में यही सबसे बड़ी कमी है, उसमें इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। आदमी को उसकी भीतरी शक्तियों से परिचित ही नहीं कराया जाता। कोई भी विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके भीतर ऐसी शक्ति भी है, जो ऐसे समय में काम दे सकती है—जहां शरीर की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। आज के विद्यार्थी को अपनी प्राणशक्ति पर भरोसा नहीं है, जानकारी नहीं है। यह देखा जाता है कि किसी एक शक्ति के आधार पर एक कमजोर व्यक्ति ऐसा काम कर लेता है, जो शक्ति के अभाव में, एक हट्टा-कट्टा आदमी भी नहीं कर पाता। शरीरबल के आधार पर व्यक्तित्व का और शक्ति का निर्णय नहीं हो सकता। एक पतला-दुबला आदमी हट्टे-कट्टे आदमी से भिड़ कर उसे नीचे गिरा देता है। गिराने वाली शक्ति शरीर की नहीं होती, वह होती है—प्राण की। आज की शिक्षा पद्धति में 'प्राण की शक्ति' का कोई प्रशिक्षण नहीं है। उस पर विचार भी नहीं किया जाता है। प्राण की शक्ति की क्षीणता अनेक समस्याओं को उत्पन्न करती है। ध्यान की प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य है—प्राणशक्ति की क्षीणता को रोकना और उसकी वृद्धि में सहभागी बनना। आज का आदमी धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को मानता तो है, पर जानता कितना है, यह अलग प्रश्न है। पर, वह मानता अवश्य है। प्रश्न है कि—अहिंसा आदमी को कायर बनाती है, ब्रह्मचर्य आदमी को पागल और विक्षिप्त बनाता है, अपरिग्रह आदमी को भिखारी बनाता है, तब इन पर इतना बल क्यों? इन पर बल देने का एक ही रहस्य है कि आदमी की प्राणशक्ति का व्यय कम हो, वह सुरक्षित रहे, उसका संवर्धन हो। एक प्राणशक्ति बढ़ती है, तो अनेक शक्तियां बढ़ती हैं। प्राणशक्ति के अभाव में कोई भी बड़ी शक्ति विकसित नहीं होती।

कुछेक मनोवैज्ञानिक इस मत के हैं कि मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य की कोई जरूरत नहीं है। इससे आदमी ग्रंथिल होता है। वे कहते हैं कि अपरिग्रह ने देश को बहुत गरीब बना डाला है, दरिद्र बना डाला है। पर, यह

जानना जरूरी है कि अब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति का कितना व्यय होता है? प्राणशक्ति का कितना खर्च होता है? पूरी पश्चिमी सभ्यता में जो एक मानसिक विक्षेप आया है, उसका सबसे बड़ा कारण है—यौन की स्वच्छन्दता। वहां काम-सेवन पर न सामाजिक प्रतिबंध है और न आंतरिक प्रतिबंध है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वहां पागलपन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह निश्चित है कि आदमी जितना अधिक कामुक होगा, शक्ति का क्षरण उतना ही अधिक होगा। जब शक्ति ज्यादा क्षीण होती है—तब चित्त में बेचैनी, पागलपन और अस्त-व्यस्तता आती है। फिर उस व्यक्ति में शांति की भूख जागती है। वह खोजता है कि शांति कैसे मिले?

अशांति क्या है? अशांति कुछ नहीं—शक्ति का जितना अधिक क्षरण होता है, उतनी ही मात्रा में अशांति जागती है। हिंसा ने आदमी को कितना क्रूर और पागल बनाया है? परिग्रह के चिंतन और ममत्व ने प्राणशक्ति का कितना क्षरण किया है?

प्राणशक्ति के विषय में कोई विचार नहीं किया जाता। सब हिंसा-अहिंसा की चर्चा में और ब्रह्मचर्य, अब्रह्मचर्य की चर्चा में ही उलझ जाते हैं। परिग्रह और अपरिग्रह को वाद-विवाद का विषय बना देते हैं, परंतु इन सबके पीछे जो मूल कारण है, वह यह है कि प्राणशक्ति का क्षरण न हो। यह भी खोज लिया गया कि चित्त का जितना असंतुलन, जितनी विषमता होगी—प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। प्रियता और अप्रियता का संवेदन जितना होगा, प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। इसलिए एक सूत्र दिया गया—समता, सामायिक और संतुलन। प्रिय-अप्रिय परिस्थिति आने पर मन का संतुलन न बिगड़े, समभाव बना रहे। समभाव और समता से प्राणशक्ति का संवर्धन होता है, संरक्षण होता है। समभाव का अभ्यास मन का तीसरा आयाम है।

आदमी मन के दो आयामों में जीता है। एक—प्रियता का आयाम है और दूसरा है—अप्रियता का आयाम। समता का आयाम उसे कभी नहीं मिला। वह समता के तट पर कभी खड़ा होना नहीं चाहता।

यथार्थ में शिक्षा का मूल उद्देश्य है—मन का संतुलन, मन की शांति, मन का निर्विकल्प होना। इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया। पूरे शिक्षा-जगत पर हम ध्यान दें—आज व्यक्ति पढ़-लिख कर अच्छा वैज्ञानिक बन जाता है, इंजीनियर या डॉक्टर बन जाता है, विशेषज्ञ बन जाता है। फिर भी वह निंदा और ईर्ष्या में फंसा रहता है। आत्महत्या तक कर लेता है। यह क्यों? अशिक्षित व्यक्ति बुराइयों में फंसे—यह समझ में आ सकता है, परंतु शिक्षित व्यक्ति भी उतनी ही बुराई करे, यह आश्चर्य होता है। एक वैज्ञानिक जब ईर्ष्या और आवेश की ज्वाला में जल उठता है और आत्महत्या कर लेता है—तब आश्चर्य होता है। तब कह सकते हैं कि शिक्षा से उसे क्या मिला? क्या शिक्षा से वह इतना भी अनुशासन नहीं सीख सका कि अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में अपना संतुलन रख सके? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आज शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक प्रश्नों को उभार देना है और उनका बौद्धिक समाधान देना मात्र रह गया है।

हमारे समक्ष दो दिशाएं हैं। एक है—ज्ञान की दिशा और दूसरी है—चरित्र की दिशा। इन दोनों में महत्त्वपूर्ण है—चरित्र का विकास। चरित्र का विकास बिना जीवनविज्ञान की शिक्षा के संभव नहीं है। ध्यान और कुछ नहीं है, वह जीवनविज्ञान की शाखा को विकसित करना है, अपने आपको जानना, अपने मन को शिक्षित करना और अपनी सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाना। हमारे भीतर सहन करने की अनंत शक्ति है, किंतु वह सोई पड़ी है। इस सोई हुई शक्ति को जगाने की जरूरत है।

इसके लिए बाह्य जगत और अंतर्जगत में संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। बाह्य जगत और अंतर्जगत—दोनों वास्तविक हैं। दोनों को स्वीकार करना है। व्यवहार को भी स्वीकार करना है और निश्चय को भी स्वीकार करना है। दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना ही ध्यान है। यही जीवन का विज्ञान है और जीवन का यह विज्ञान शिक्षा प्रणाली का अनिवार्य अंग होना चाहिए। ❖

'भारतीय शिक्षा की अधिकांश समस्याओं की जड़ें भारतीय समाज तथा उसके दर्शन में खोजी जा सकती हैं। साथ ही यह भी लगभग सर्वमान्य है कि यदि समाज और दर्शन के संदर्भ में बिना विचार किए मात्र शिक्षा में सुधार करने के प्रयत्न किए जाएंगे, तो उसकी सफलता की संभावना बहुत ही सीमित है। कानून अथवा धन की सहायता मात्र से शैक्षिक समस्याओं का समाधान होता हुआ प्रतीत नहीं हो रहा। हमारी अनेक समस्याओं में से कुछ इस प्रकार हैं— 1. भारत की अधिसंख्य जनता निरक्षर है। 2. भारत में केवल एक ही शिक्षा प्रणाली नहीं है और हमारी कोई राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था भी नहीं है। 3. शिक्षा-माध्यम का प्रश्न अभी तक सुलझ नहीं पाया है। 4. अध्यापक नीरस हैं तथा जनजीवन के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं।'

❑❑

शिक्षा का सवाल : चाहिए कठोर निर्णय

❑ राजेंद्रपाल सिंह ❑

भारत के मध्यम वर्ग ने भारत के निर्माण में अनेक प्रकार से योगदान दिया है। इसी वर्ग ने आज के अध्यापक, वकील, इंजीनियर, डॉक्टर आदि को 'प्रोफेशनल' स्तर दिया है। ऐसा नहीं कि ये लोग पहले नहीं थे, पर योग्यता के आधार पर आने वालों का पहली बार भारत में एक वर्ग बना। यह वर्ग अपनी प्रगति का कारण शिक्षा को मानता है। शिक्षा के मूल्य की इसी वर्ग में सही पहचान है। इसी वर्ग ने अपने मूल्यों को जन्म दिया है और उनकी स्थापना के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। यही वर्ग नीचे, ऊपर अथवा बराबर के लोगों के लिए खुला है। इसी वर्ग ने पहली बार क्षेत्रीयता, धर्म, भाषा तथा राजनीति के आधार से मुक्त होकर स्वतंत्र अस्तित्व बनाया है। इसी वर्ग का जीवन-मापन प्रायः सभी धर्मों में समान है। यही वर्ग आज के व्यापार अथवा विलास के सुख-साधनों का सही और सबसे बड़ा उपभोक्ता है। इसी वर्ग के लोग आज सब प्रकार से 'मीडिया' पर छा गए हैं और इसीलिए इसी वर्ग द्वारा स्थापित 'मूल्य' भारतीय मूल्य कहलाते हैं।

शिक्षक दिवस : 5 सितंबर
विश्व साक्षरता दिवस : 8 सितंबर
हिंदी दिवस : 14 सितंबर
अवसर विशेष

भारतीय समाज अपने धर्म तथा अपनी मान्यताओं के कारण छोटे-छोटे वर्गों में विभाजित रहा है। इस विभाजित समाज में एक अविभाजित वर्ग पहली बार खड़ा हुआ, जिसने अन्य वर्गों को निरर्थक सिद्ध किया। यहां तक कि व्यापार का धर्म भी इस वर्ग की सहायता के बिना नहीं चल सकता। जाति विशेष की महत्ता को कम करने वाला यह वर्ग अपने में अध्ययन के लिए कम रोचक विषय नहीं है।

यहां यह कहना उचित होगा कि आज के भारतीय समाज में बुद्धिजीवी वर्ग भी तीन प्रकार का है— (1) **परंपरावादी**—जिनके लिए प्राचीन ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है और जो वर्तमान को भी भूत के परिप्रेक्ष्य

में देखता है। **(2) आधुनिक वैज्ञानिक, धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी**—जो अपनी मेहनत से ज्ञानार्जन करते हैं और, **(3) बिकाऊ बुद्धिजीवी**—जो अधिकांश स्थानों में दिखलाई पड़ते हैं। आज के बुद्धिजीवी प्रायः इसी कोटि में आते हैं। अलबत्ता मैं यहां पर प्रथम तथा द्वितीय कोटि के बुद्धिजीवियों की ही बात कर रहा हूं। ये बुद्धिजीवी आज के सामाजिक वर्गीकरण में मध्यम वर्ग के हैं। इनमें द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के बुद्धिजीवियों की अलग-अलग मान्यताएं हैं तथा इनके जीवन के उद्देश्य तथा काम करने के तरीके भी अलग-अलग हैं। इस वर्ग-भेद के कारण शिक्षा में क्या हो रहा है, यह हम आगे देखेंगे।

आज का भारतीय समाज असमानताओं से भरा है। इन्हीं असमानताओं के कारण शिक्षा में भी असमानताएं दिखाई पड़ती हैं। एक ओर यदि आदिम जातियां अथवा कबीले हैं, तो दूसरी ओर गांव हैं। शहर अनेक प्रकार की विकृतियों से भरे पड़े हैं। गंदी बस्तियों में मानव-समाज पशुवत जीवनयापन कर रहा है। उन्हीं से सटी अन्य बस्तियां हैं, जहां योरोप की नकल में उच्च अट्टालिकाएं हैं, 'यूनीफार्म' में सजे बच्चे हैं और जिन्हें जीवनयापन को स्तरीय बनाए रखने के लिए शिक्षा दी जा रही है। इस वर्ग-विशेष के कारण भी शिक्षा में अनेक विकृतियां उत्पन्न हो रही हैं। इसकी चर्चा भी हम आगे करेंगे।

स्थानीय, जातीय तथा आर्थिक असमानताओं में एक और भी असमानता जुड़ी हुई है। वह है—स्त्री-पुरुष असमानता। जो भी ऐतिहासिक कारण रहे हों, परंतु इस असमानता ने आज के भारत को पंगु बना दिया है। यदि किसी राष्ट्र का लगभग आधा भाग, आधी दुनिया किन्हीं कारणों से त्रस्त हो और उसे विकास के साधन ही उपलब्ध न हों—तो वह समाज कैसे चलेगा? भारत की स्त्री की भूमिका को देख कर इसका अंदाज लगाया जा सकता है। स्त्री की यौन-शुचिता की थोपी हुई कल्पना, पुरुष द्वारा अपने को दी गई सुविधा का दूसरा नाम है। जबकि आर्थिक लड़ाई में उसकी गौण भूमिका, उसकी आत्मनिर्भरता के लिए चुनौती है। इन्हीं कुछ मान्यताओं ने शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री के लिए अनेक द्वार बंद करके रखे हुए हैं।

दहेज को लेकर स्त्री पर हो रहे अत्याचार एक अन्य सामाजिक विषमता की ओर ध्यान दिलाता है। विवाह आज मात्र व्यापार है। आर्थिक कुंठाओं की पूर्ति का साधन है और इसमें स्त्री (पत्नी) पुरुष के जीवन-स्तर को बढ़ाने का एक सहज उपाय है। आज का विवाह एक बार के दहेज की कथा नहीं कहता, प्रत्येक माह दहेज लाने की चर्चा करता है।

फिर योजना विभाग द्वारा दिए हुए आंकड़े भी हैं, जो बताते हैं कि भारत की लगभग आधी आबादी गरीबी-रेखा से नीचे है। जिसे दिन में एक समय भी भोजन नहीं मिलता। यह वर्ग अपना जीवनयापन कैसे करता है? यह क्या चाहता है और क्या पा सकता है? इन मूल प्रश्नों का उत्तर कदाचित ही किसी के पास हो।

संक्षेप में, भारतीय समाज की कल्पना आर्थिक विषमताओं, मूल्यों की अवधारणाओं, लिंग-भेद, वर्ग और वर्ण भेद के साथ-साथ स्थान भेद की बात बिना किए संभव नहीं है। लाखों लोग बिना किसी आशा के जीवित हैं। रोजगार के साधन नहीं हैं। रहने के स्थान की कमी है। आर्थिक विकास इतने लोगों को जीवित रखने के लिए भी नाकाफी हैं। इसलिए यहां केवल राजनीति का ही बोलबाला है। केवल कुछ ही लोग पर्याप्त सुख-साधन रख पाने की कल्पना कर सकते हैं और ऐसी स्थिति में इस समय केवल एक ही वर्ग विजेता है—मध्यम वर्ग, जो आर्थिक तथा राजनीतिक, दोनों ही श्रेणी में अपने सुनिश्चित भविष्य की योजना बना सकता है।

भारतीय दर्शन

अब हमें थोड़ी बात भारतीय दर्शन पर करनी चाहिए। भारतीय दर्शन ने भारतीय मानस को एक विशिष्ट रूप दिया है। भारतीय दर्शन की एक पहचान वेद, उपनिषद तथा आरण्यकों से की जाती है, तो साथ ही साथ भारतीय दर्शन के अन्य प्रमुख स्वर बौद्ध तथा जैन धर्म भी हैं। भारत की एक देन यह भी मानी जाती है कि उसने ब्रह्म को पहचाना और आत्मा के द्वारा उससे संबंध स्थापित किया। मनुष्य ससीम है और असीम उसकी खोज का विषय है। इसी खोज का अंत निर्वाण है। पदार्थ को संसृति का मूल मानने वाले तथा पदार्थ से चेतन तक की यात्रा का विकास भारतीय दर्शन की ही एक धारा है।

संसार मिथ्या है। इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अपूर्ण है। सत्य अपने में एक सर्वमान्य अलग अस्तित्व वाला सत्य है। सत्य स्वयं में उद्‌भासित है। इसी सत्य की खोज ब्रह्मज्ञान है, जो जीव को न केवल पार्थिव शरीर से मुक्ति दिलाता है, वरन उसके पूर्व जन्म के समस्त कलुषों को भी धो देता है। इसलिए इस भौतिक जगत की किसी भी वस्तु से मोह बुरी बात है। ब्रह्म अथवा परमात्मा केवल इच्छा मात्र से संसार का नियंता है।

मस्तिष्क के द्वारा असली ज्ञान संभव नहीं है। सच्चा ज्ञान प्रज्ञा को जन्म देता है तथा मुक्ति दिलाता है। मुक्ति अथवा निर्वाण जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से ही मिलता है। निरंतर निर्वाण-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानने वाले व्यक्ति ही सुखी तथा श्रेष्ठ मानव हैं।

निर्वाण तीन प्रकार से प्राप्त होता है—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। भक्ति मार्ग सहज है। यह जल्दी समझ में आने वाली चीज है। इसलिए कम पढ़ा-लिखा आदमी भी सच्चरित्र होते हुए, साधुजन की संगत में रहते हुए दुष्कर्मों से बच सकता है और सद्‌गति को प्राप्त हो सकता है।

इस दर्शन में ज्ञान अपेक्षित नहीं है। यह दर्शन व्यक्तिगत मोक्ष की संभावनाओं की पुष्टि करता है। भारतीय दर्शन का वैशिष्ट्य भी यही है कि वह दो मार्ग दिखाता है—एक कठिन और दूसरा सरल। कठिन मार्ग कर्म का है, ज्ञानार्जन का है। सरल मार्ग केवल भक्ति का है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी है। ज्ञानी तथा भक्त, दोनों का एक ही साध्य है—मोक्ष।

भारतीय दर्शन तीन वृत्तियां मानता है और उन तीनों में श्रेष्ठता भी बताता है। सात्त्विक, रजस और तसम—ये तीन वृत्तियां है, जिनमें प्रथम आदर्श है और तृतीय निकृष्ट।

शिक्षा में सुपात्रता के प्रश्न का उत्तर भी भारतीय दर्शन उठाता है। शिक्षा के लिए वही योग्य है—जिसमें लगन हो, जो बताए गए मार्ग पर चल कर सत्य को पहचान ले।

भारतीय दर्शन विद्या को दो प्रकार की मानता है—एक परा और दूसरा अपरा। चूंकि यह दर्शन इस जीवन की महत्ता को ही नहीं मानता, इंद्रिय-जन्य ज्ञान को हेय मानता है तथा अपार बौद्धिक जगत की चर्चा भी करता है, इसलिए अपरा विद्या भारतीय के लिए सर्वथा उचित है। अपरा विद्या के कारण ही तंत्र, योग आदि का विकास हुआ है। भारतीय पढ़ाई का स्रोत श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन मानते हैं।

भारतीय दर्शन का भारतीय जीवन तथा शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा है। यूरोप में पढ़ाने के लिए प्रमाणों की संख्या केवल दो है—प्रत्यक्ष तथा अनुमान। वह और किसी प्रकार के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते, किंतु भारत में प्रमाण इस प्रकार है—(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) शब्द, (4) उपमान, (5) अर्थापत्ति, (6) संभव तथा (7) ऐतिह्य। संक्षेप में गुरुजन का वचन, पूर्व धारणा के आधार पर विषय प्रतिपादन, संभव तथा ऐतिह्य अर्थात् जो परंपरा से प्राप्त असिद्ध ज्ञान अथवा जनश्रुति आदि को भी प्रमाण माना जाता है। इसलिए न केवल विज्ञान-सिद्ध प्रमाण, वरन विज्ञानेतर प्रमाण भी अपने में महत्ता रखता है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि भारत में विज्ञान के साथ अनंत अवैज्ञानिक, तर्कहीन बातें भी स्वीकृत हुई हैं। पाठ्यक्रम तथा पढ़ाने की विधियां तथा पढ़ाने वाले का स्थान अपने में महत्त्वपूर्ण है।

इस्लाम के दर्शन ने भारत की शिक्षा तथा जीवन पर काफी गहरा प्रभाव छोड़ा है। इसलिए संक्षेप में इसकी चर्चा भी आवश्यक है। इस्लाम मुस्लिम+ईमान अर्थात् पूर्ण भक्ति अथवा विश्वास पर आधारित है। कुरान, हदीस और फिक्ह द्वारा प्रत्येक मुसलमान का जीवनयापन संचालित होता है।

इसी प्रकार भारत में अनेक ऐसे धर्म हैं, जिसमें धर्म के संरक्षण के लिए शिक्षा एक हथियार है।

पिछले कुछ वर्षों में मार्क्सवाद तथा समाजवाद अपने भारतीय-कृत रूप में प्रकट हुए हैं। मार्क्सवाद को भारतीय जनमानस ने किसी हद तक स्वीकारा भी है। समाजवाद एक लचीले शब्द के रूप में हमारे सम्मुख है। भारतीय समाजवाद की परिभाषा डॉ. राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू आदि ने की थी, परंतु सही अर्थों में कौन समाजवादी है और कौन नहीं—यह कहना कठिन है। परिभाषा समय सापेक्ष बना दी जाती है।

राजनीतिक दर्शनों के अनुयाई जब अध्यापक अथवा छात्र हो जाते हैं, अथवा अपने सही रूप में संगठित होते

हैं तो शिक्षा पद्धति के विकास के स्थान पर भूचाल आते हैं। हमारी समस्त शिक्षा पद्धति का विकास तथा नियंत्रण इसी राजनीतिक औदार्य की विभीषिका से आतंकित है।

इसलिए यह प्रश्न अपने में महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय जनता के दर्शन तथा उसके शासकों के दर्शन में किस प्रकार का साम्य है? मुझे लगता है कि इसका उत्तर केवल यही है कि कोई साम्य नहीं है। जनता नियतिवादी है। वह एक नियंता के अस्तित्व को मानती है। इसलिए जीवन के प्रत्येक भार को वह सहज ही 'भाग्य' की संज्ञा देकर झेल जाती है। यहां पर शासक केवल शासन चलाने के लिए किसी भी दर्शन की कीमत नहीं करता, इसलिए उसके व्यवहार के अंतर्विरोध किसी को दिखाई नहीं पड़ते।

हर राजनीतिक दल शिक्षा के प्रति उदासीन है। शिक्षा के नाम पर अरोचक, अर्थहीन पाठ्यक्रम तथा उदासीन अध्यापक दिए जा रहे हैं। कहना न होगा कि न भारतीय समाज की संरचना और न उसका दर्शन ही शिक्षा की प्रगति में किसी प्रकार से सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

भारतीय शिक्षा

भारतीय शिक्षा की अधिकांश समस्याओं की जड़ें भारतीय समाज तथा उसके दर्शन में खोजी जा सकती हैं। साथ ही यह भी लगभग सर्वमान्य है कि यदि समाज और दर्शन के संदर्भ में बिना विचार किए मात्र शिक्षा में सुधार करने के प्रयत्न किए जाएंगे, तो उसकी सफलता की संभावना बहुत ही सीमित है। कानून अथवा धन की सहायता मात्र से शैक्षिक समस्याओं का समाधान होता हुआ प्रतीत नहीं हो रहा। हमारी अनेक समस्याओं में से कुछ इस प्रकार हैं—1. भारत की अधिसंख्य जनता निरक्षर है। 2. भारत में केवल एक ही शिक्षा प्रणाली नहीं है और हमारी कोई राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था भी नहीं है। 3. शिक्षा-माध्यम का प्रश्न अभी तक सुलझ नहीं पाया है। 4. अध्यापक नीरस हैं तथा जनजीवन के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं। इत्यादि, इत्यादि।

इसलिए हमें यह समझना होगा कि प्रत्येक शिक्षा-प्रबंध समाज तथा समय सापेक्ष हो। चूंकि हमारा समाज धर्म तथा जातियों में बंटा है, इसलिए लगभग प्रत्येक धर्म तथा जाति की अपनी-अपनी शिक्षा संस्थाएं हैं। इसी प्रकार शिक्षा के माध्यम का प्रश्न भी है। वह भी क्षेत्रीय तथा राजभाषाओं की राजनीति से ऊपर नहीं उठ पाया है। यह प्रश्न अब इतना जटिल हो गया है कि कोई सरकार इस संदर्भ में आसानी से सर्वमान्य हल ढूंढ़ने में समर्थ प्रतीत नहीं होती।

शिक्षा स्वयं एक ऐसा मूल्य है, पर इसे केवल कुछ ही वर्ग स्वीकार करते हैं।

आज की भारतीय शिक्षा प्रणाली केवल एक ही वर्ग की सेवा कर रही है, अर्थात् मध्यवर्ग की। इस वर्ग में भी आपसी भेद तथा अनेक अंतर हैं। एक छोटा-सा मध्यम-वर्ग काफी शक्तिशाली तथा साधन संपन्न है और उच्चतम वर्ग में घुसने के लिए प्रयत्नशील है। यही वर्ग आज का आदर्श है। इस वर्ग का केवल एक ही जीवन मूल्य है—इस आर्थिक तथा राजनीतिक अनिश्चय में सर्वाधिक सुख-साधनों की व्यवस्था कर ली जाए। उसकी भाषा जन-साधारण की नहीं है। उसके चिंतन का केंद्र वह स्वयं है, अर्थात् व्यक्तिगत निर्माण की मान्य परंपराओं को आगे बढ़ाते हुए उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में या तो सारे अधिकार प्राप्त कर लिए हैं या करने के लिए प्रयत्नशील है।

किसी भी राष्ट्रीय स्तर प्राप्त शिक्षा संस्थान में इसी मध्यम वर्ग के प्रतिनिधित्व का बाहुल्य देखा जा सकता है। विदेशी शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने के लिए लालायित छात्र-छात्राएं प्रायः इसी वर्ग से आते हैं। केंद्रीय नौकरियों में भी यही वर्ग अपना वर्चस्व स्थापित किए हुए है।

इसीलिए हम आसानी से देख सकते हैं कि एक ओर भारत यदि बड़े कुशल डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि पैदा कर रहा है, तो दूसरी ओर ऐसे सामान्य नागरिक हैं, जो अपने समाज की साधारण-सी समस्याओं को समझने के लिए भी योग्य नहीं हैं। सर्वोच्च प्रतिभाशाली छात्र-छात्राएं तो भारत में नहीं रहने के लिए भी तैयार हैं और न भारत इन्हें खपा ही सकता है। हमने 'ब्रेन-ड्रेन' के स्थान पर एक सुलभ मान्यता को जन्म दे दिया है—वह है 'ब्रेन-ग्रेन'। अर्थात् जो भारत का नुकसान है, वह विश्व का लाभ है।

समाज की भांति शिक्षा में भी अनेक स्तर दिखलाई पड़ते हैं। उच्च-स्तरीय स्कूल, मध्य-स्तरीय तथा निम्न-स्तरीय स्कूल। कोई भी आसानी से इस स्तर की व्याख्या में स्कूलों के नाम जोड़ सकता है। शेष पृष्ठ 53 पर

'लोगस्स' एक मंत्रगर्भित स्तवन है। इसमें मंत्राक्षरों की ऐसी अनुपम और बेजोड़ संयोजना है कि इसके स्तवन, ध्यान, जप अथवा स्वाध्याय से असाध्य कार्य भी साध्य हुए हैं। इस स्तवन का एक-एक अक्षर महाशक्ति पुंज है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में निर्मित इस स्तवन को स्तुति साहित्य का महत्त्वपूर्ण पाठ माना गया है। संकल्प-शक्ति, इच्छाशक्ति और मनःशक्ति को विकसित करने के लिए इससे निस्सृत अनेक मंत्रों की रचना उपलब्ध है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'लोगस्स' के कई कल्प बनाए हैं। जिनमें साधना, आराधना एवं मंत्राक्षरों की अनेक विधियां प्राप्य हैं। मंत्र रहस्यों के पारगामी मंत्रविद् आचार्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने निर्मलता, तेजस्विता और गंभीरता आदि गुणों के विकास हेतु एक रहस्य पूर्ण मंत्र की संयोजना की जिसका प्रभाव अचिंत्य है। वह मंत्र जप से ही अनुभव-गम्य है।

स्तवन : भक्ति नहीं, व्यक्ति नहीं; आंतरिक विकास

साध्वी पुण्ययशा

जैन धर्म का आदर्श है—जिनेंद्र और जिन भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म का नाम है—जैन धर्म। जैसे भूत विजेता इंद्रादिक देव प्रसिद्ध हैं और उन्हें ब्राह्मण परंपरा में उपास्य पद प्राप्त है, वैसे ही श्रमण संस्कृति के जो आत्म विजेता हुए वे 'जिन' नाम से प्रख्यात हैं। 'जिन' शब्द किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। यह उस आध्यात्मिक शक्ति का संबोधक शब्द है, जिसमें व्यक्ति ने राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता की स्थिति से अपने आपको उपरत कर लिया है। अर्हत्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर—ये सब 'जिन' शब्द के ही पर्याय हैं। इन्हें देवाधिदेव भी कहते हैं। इसी प्रकार 'णमो अरहंताणं' भी जैन धर्म का गुणात्मक आदर्श है। व्यक्ति स्वयं सम्यक्ज्ञानी, सम्यक्दर्शनी और सम्यक्चारित्री बने—यही इसकी उपासना है। इसके प्राचीन नाम आर्हत् धर्म, निर्ग्रंथ धर्म एवं श्रमण धर्म रहे हैं। इस अवसर्पिणीकाल में जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। प्रथम भगवान ऋषभ और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। जैन धर्म की वर्तमान परंपरा का संबंध भगवान महावीर के साथ है।

जैन धर्म गुणों का उपासक

भारतीय संस्कृति और उसमें भी मुख्यतया 'जैन संस्कृति' अध्यात्म की संस्कृति है। यहां भोग और भौतिक सुखों की नहीं, त्याग और संयम की महत्ता रही है। भारतीय संस्कृति में आत्मविद्या के प्रथम प्रवर्तक 'ऋषभ' माने गए हैं। इस तथ्य को केवल जैन आचार्य ही नहीं मानते, भागवत में भी इसकी अभिव्यक्ति हुई है। वैष्णव ग्रंथों में 'नाभि' को आठवां मनु मान कर 'ऋषभ' को उनका पुत्र माना गया है। वैदिक संहिताओं के कई प्रकरणों में 'ऋषभ' का उल्लेख मिलता है। तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धांत का उद्घोष किया था कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा विद्यमान है। आत्म-साधना से अपने

देवत्व को जो प्रकट कर लेता है, वही परमात्मा बन जाता है। उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से होती है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो शेरवीत्ति महादेवो मर्त्या आ विवेश।।

अर्थात् जिसके चार शृंग—अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र और अनंत वीर्य हैं, तीन पाद—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं, दो शीर्ष—केवल्य और मुक्ति हैं और सात हस्त (सात व्रत) हैं तथा जो मन, वचन और काय—इन तीन योगों से बद्ध (संयत) हैं—उस वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की है कि महादेव (परमात्मा) मनुष्य के भीतर ही आवास करता है। अथर्ववेद और यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं।[1] कहीं-कहीं वे प्रतीक शैली में वर्णित हैं और कहीं-कहीं संकेत रूप में।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन धर्म व्यक्ति का नहीं, गुणों का उपासक है। वह व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है, पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही हैं। गुणों की उपासना का प्रयोजन गुणों की प्राप्ति है। गुण वृद्धि के लिए ही भक्त उपासक गुणवान उपास्य को अपना आदर्श मानता है और जिस विधि से स्वयं उपास्य ने गुण प्राप्त किए उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणों को प्राप्त करना चाहता है। आचार्य हेमचंद्र ने वीतराग भगवान की स्तुति करते हुए कहा है—

भव बीजांकुर जलदाः रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरौ जिनो वा नमस्तस्मै।।

अर्थात् भव बीजांकुर के लिए मेघ के समान रागादिक संपूर्ण दोष जिनके क्षीण हो गए, उसे मेरा प्रणाम है—फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, या विष्णु, अथवा महादेव हो, या जिन।

कई लोग देवों की भक्ति व भौतिक समृद्धि से प्रभावित हो उनकी भक्ति करते हैं और कहते हैं कि वे स्तुति और भक्ति से प्रसन्न हो कर उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि देंगे। जैन सिद्धांतानुसार मानवीय चेतना देवों से भी अधिक महत्त्व की है। दशार्णभद्र राजा को इंद्र अपने वैभव का प्रदर्शन कर परास्त करना चाहता था, तब भगवान महावीर ने कहा—दशार्णभद्र! तुम मानव हो। मानव अगर अपनी शक्ति से परिचित हो जाए, तो वह देवों से पराजित नहीं हो सकता। क्योंकि देव त्याग की चेतना में मानव की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। दशार्णभद्र को बोधपाठ मिला। वह राज्य-वैभव को त्याग कर मुनि बन गया। इंद्र को पराजित होना पड़ा। उसका सिर राजर्षि के आगे झुक गया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में भक्ति का स्थान गुण है, व्यक्ति नहीं। जैन धर्म की यह स्पष्ट अवधारणा है कि व्यक्ति साधना के द्वारा आत्मा के उत्कर्ष से अपनी आंतरिक शक्तियों का विकास कर अर्हत् व सिद्ध बन सकता है। इस साधना तक पहुंचने हेतु वह आध्यात्मिक विकास के लिए देव-गुरु व धर्म की शरण को स्वीकार करता है।

कैसे हो परमात्मा के दर्शन?

अध्यात्म मनीषी आचार्यश्री तुलसी की ये पंक्तियां—

आत्मा ही परमात्मा मेरा,
टूट पड़े कर्मों का घेरा।
कर्म मूल हिंसा का उससे,
बचता नहीं मनुज अज्ञानी।
आयारो की अर्हत् वाणी।।[2]

इस तथ्य को व्याख्यायित करती हैं कि जैन धर्म अवतारवाद को नहीं मानता। यद्यपि वह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है, पर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानता। यहां आत्म कर्तृत्व के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है और पुरुषार्थवाद को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। वह प्रत्येक आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है और पुनर्जन्म में विश्वास करता है।

आत्मा अनंत शक्ति का स्रोत एवं निधान है। उस अनंत शक्ति को सक्रिय कैसे किया जाए? शक्ति की अभिव्यक्ति कैसे हो? कैसे हो आत्मा और परमात्मा के दर्शन? और, कैसे हो उनके साथ तादात्म्य भाव? जिज्ञासा के रूप में उभरते इन प्रश्नों के समाधान में कहा जा सकता

है कि इन सबका साक्षात्कार करने की तीन प्रमुख चाबियां हैं—उपासना, स्तुति और भक्ति। तात्पर्य यह कि—1. **उपासना**—समीप बैठना। 2. **स्तुति**—गुणों का उत्कीर्तन करना। 3. **भक्ति**—इष्ट के प्रति समर्पित हो जाना।

जो ताला सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी नहीं खुलता, वही ताला सही चाबी लगने से आसानी से खुल जाता है। स्तुति में तन्मयता आने से आत्मा के अनंत शक्तिस्रोतों के उद्घाटन में संदेह को कोई अवकाश नहीं रहता। आचारांग में अर्हत् के साथ तादात्म्य स्थापित होने के निम्नोक्त पांच कारण बताए हैं[3]—1. उनकी दृष्टि, 2. उनका स्वरूप ज्ञान, 3. उनका आगमन, 4. उनकी चैतसिक अनुभूति और 5. उनका सान्निध्य।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अर्हत् परमात्मा को **'जितरागद्वेषमोहाः'** विशेषण से संबोधा गया है। जब परमात्मा राग-द्वेष से मुक्त है, तब उनकी स्तुति से लाभ ही क्या? राग न होने के कारण वे अपने किसी भी भक्त पर अनुग्रह नहीं करेंगे और द्वेष न होने के कारण वे किसी भी दुष्ट का निग्रह करने के लिए भी प्रेरित नहीं होंगे। क्योंकि अनुग्रह-निग्रह में प्रवृत्ति तो राग-द्वेष की प्रेरणा से ही होती है। जो शिष्टों पर अनुग्रह और दुष्टों पर निग्रह करता है, उसमें राग या द्वेष का अस्तित्व जरूर होता है। किंतु, जैन इस प्रकार के किसी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते।

इस जिज्ञासा का जो समाधान जैन ग्रंथों में दिया गया है—वह बड़ा ही मनोग्राही, तर्कसंगत एवं आकर्षक है। आचार्य समंतभद्र के स्वयंभू स्तोत्र में तीर्थंकर वासुपूज्य की स्तवना से इस जिज्ञासा का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। स्तवन इस प्रकार है—

न पूज्यार्थस्त्वयिवीतरागे, न निन्दयानाद विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरितां जनेभ्यः।।

अर्थात् हे नाथ! आप तो वीतराग हैं। आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं। आप न अपनी पूजा करने वालों से खुश होते हैं और न ही निंदा करने वालों से नाखुश। क्योंकि आपने तो वैर का पूरी तरह शमन कर दिया है। तब यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप-रूप कलंक से हटा कर पवित्र बना देता है।

इसका आशय यह है कि यद्यपि परमात्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता, फिर भी उनके निमित्त से आत्मा में जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है—उसी से उसके पाप का क्षय और निर्जरा के साथ पुण्य का बंध हो जाता है।

तथ्य यह कि भौतिक सुविधाओं तथा ऋद्धि, सिद्धि व समृद्धि का उपलब्ध होना निर्जरा का फल नहीं है। वह निर्जरा के सहवर्ती बंधने वाले पुण्य कर्मों का परिणाम है। जैन दर्शन की मान्यता है कि जहां निर्जरा होती है, वहां पुण्य का बंध भी होता है। उस पुण्य बंध के कारण ही उपासक अयाचित और अनायास प्रासंगिक लाभों से भी लाभान्वित हो जाता है। इसलिए अर्हत् भक्ति का उद्देश्य आत्मा का निर्मलीकरण है और उसकी चरम परिणति है—मोक्षपद की प्राप्ति। उसके प्रासंगिक फल हैं—यश की प्राप्ति, लक्ष्मी का वरण करना, स्वर्ग का मिलना, आरोग्य का पाना, दारिद्र्य, भय एवं विपदाओं का नष्ट होना आदि-आदि।

महाकवि धनंजय इसी बात का समर्थन करते हुए 'विषापहार स्तोत्र' में लिखते हैं—

उपैति भक्त्या सम्मुख सुखानि,
त्वयिस्वभावाद विमुखश्च दुःखम्।
सदावदात द्युतिरेक रूपस्तयोस्त्वमादर्श इवाभवासि।।

हे भगवन! तुम तो निर्मल दर्पण की तरह स्वच्छ हो। स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है। जो तुम्हें निष्कपट भाव से देखता है, वह सुख पाता है और जो कपट भाव से देखता है, वह दुःख पाता है।

ठीक ही है, दर्पण में कोई अपना मुंह सीधा कर देखता है, तो उसका मुंह सीधा दिखता है और जो अपना मुंह टेढ़ा करके देखता है, उसे टेढ़ा दिखता है। किंतु, दर्पण न किसी का मुंह टेढ़ा करता है और न ही सीधा। इसी प्रकार राग-द्वेष रहित परमात्मा न किसी को दुख देते हैं और न सुख। वह तो प्रकृतिस्थ हैं। बहुत ही यथार्थ और मार्मिक कहा गया है—

हम खुदा थे, गर न होता दिल में कोई मुद्दआ।
आरजुओं ने हमारी, हमको बंदा कर दिया।।

भगवान् महावीर ने कहा—**'धम्मो शुद्धस्स चिट्ठई'**[4]—धर्म का निवास शुद्ध हृदय में है। चित्त शुद्धि

के अभाव में परमात्मा का अवतरण, दर्शन असंभव है। जब हम 'लोगस्स' का प्रथम पद उच्चरित करते हैं, तब अर्हत् स्वरूप के चिंतन से हमारे हृदय में शत्रुता-रहित भाव (न हम किसी के शत्रु हैं, न कोई हमारा शत्रु है) उभरते हैं। जब हम शक्रस्तव के 'अभयदयाणं' की गहराई में प्रवेश करते हैं, तब हमारे चित्त में प्रवाहित अशत्रुता की भावना हमारे भीतर निर्भयता का संचार करती है। जब कोई शत्रु ही नहीं, तो भय किससे? अशांति भी अभय की सहचरी है, क्योंकि निर्भयता के समय मन व मस्तिष्क की उद्विग्नता, तनाव आदि समाप्त हो जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक इन्हीं क्षणों में 'अल्फा' तरंगों की उत्पत्ति मानते हैं, जो चित्त को शांत बनाने के साथ-साथ परिपार्श्व के वातावरण में भी शांति का संचार करती हैं। जब हम 'णमो सिद्धाणं' व 'सिद्धा सिद्धि ममदिसंतु' पद के स्वरूप पर तन्मय होते हैं, तो सुख की उर्मियां उछलने लगती हैं। परिणामस्वरूप अव्याबाधता की भावना बलवती होने लगती है। जब कोई बाधा ही नहीं है, तो दुख भी नहीं रहता। सुख ही सुख रह जाता है। धार्मिक-कर्म-ग्रंथिय भाषा में सबसे बड़ी बाधा है—कर्म। कर्मों का शमन हो गया, तो बाधा स्वयं ही निःशेष हो गई। भौतिक जगत में रोग आदि अनेक प्रकार की बाधाएं हैं। इसी की समाप्ति को अभिव्यक्ति देते हुए 'शक्रस्तव' में सिद्धों का गुण 'अरूप' भी बताया गया है। रोग के साथ दुख, शोक आदि सभी की समाप्ति हो जाती है। संक्षेप में सिद्धपद के जप व ध्यान से अव्याबाध सुख की भावना दृढ़ होती है।

वास्तव में मन को क्षीर-समुद्र बनाने से ही तीर्थंकरत्व का अवतरण होता है। शिव का निवास भी क्षीर-सागर में माना है। तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती हैं, उनमें एक क्षीर-सागर का स्वप्न भी देखती है।[5]

स्वामी विवेकानंद ने धर्म को शाश्वत, आत्मा का शाश्वत, ब्रह्म से शाश्वत संबंध कहा है।[6] अलबर्ट आइंस्टाइन ने कहा है—'जीवन का जो उद्देश्य मेरे सामने हमेशा चमकता रहा, वह है—भलाई, सौंदर्य और सत्य।' पातंजलि कहते हैं—'वीतराग विषयं वा चित्तं'—अर्थात् वह चित्त में स्थित हो जाता है, जो वीतराग को अपना विषय बनाता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि परमात्मा अपने भीतर है। परमात्मा हमारा स्वभाव-सिद्ध अधिकार है। इसलिए अपने में होना ही परमात्मा में तन्मय होना है। जो परमात्मा में तन्मय है, वह सुख-दुख में नहीं, आनंद में है। हमारे श्रद्धारूपी हृदय-मंदिर में सदैव परमात्मा की ही ज्योति जगमगानी चाहिए।

परमात्मा का स्वरूप

देवयोनि में असंख्य देव तथा देववाचक अन्य देव रागादि-दोषों से युक्त होने के कारण साधक को बंधनमुक्त नहीं कर सकते। जैसे—भूदेव, नरदेव, अग्निदेव, वायुदेव, नामदेव, स्थापनादेव, क्षेत्रदेव, कालदेव, भावदेव आदि। अतएव मुमुक्षु को दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय, काम, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष—इन अठारह दोषों[7] से मुक्त देव (अरिहंत) को ही आराध्य मान कर श्रद्धा करनी चाहिए। क्योंकि सत्य का प्रथम साक्षात्कार, केवलज्ञान का प्राप्तकर्ता अरिहंत है। जो कुछ भी सत्यासत्य का प्रकाश प्राप्त है, उसी को मुनि या साधु आमजन के सामने व्याख्यायित करते हैं। साधु ने स्वयं सत्य का ज्ञान या साक्षात्कार नहीं किया। मूल अनुभूत सत्य की प्रतिमा 'अरिहंत' भगवान है। वही आध्यात्मिकता का सर्वोच्च और पवित्र रूप है। उन्हीं के आध्यात्मिक प्रकाश में संसार का अज्ञानांधकार नष्ट होता है।

भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—'भंते! अरिहंत को देवाधिदेव, अर्थात् देवताओं से भी श्रेष्ठ देव क्यों कहा जाता है?' प्रत्युत्तर में भगवान महावीर ने कहा—'गौतम! अरिहंत अनंत ज्ञान, अनंत-दर्शन आदि दिव्यातिदिव्य गुणों से युक्त होते हैं। वे समस्त देव और देवेंद्रों के भी पूज्य होते हैं। इसलिए उन्हें देवाधिदेव कहा जाता है।'[8]

मानस में तुलसीदासजी ने भी कहा है—

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी

वस्तुतः श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति हेतु नमस्कार किया जाता है। अरिहंत देव के गुण रूपी पुष्पों पर जब हमारा मनरूपी भंवरा मंडराएगा, तो उस अनंत शक्ति के मकरंद का रसास्वादन अवश्य ही होगा।

निक्षेप नय के अनुसार अरिहंत की व्याख्या चार नयों से की जाती हैं—**1. नाम अरिहंत**—जैसे किसी व्यक्ति को अरिहंत, अर्हदास, जिनदास, ऋषभकुमार, वर्धमान आदि नामों से पुकारा जाता है। वह नाम से अरिहंत है, पर उसमें अरिहंत के गुण नहीं हैं। **2. स्थापना अरिहंत**—किसी वस्तु में अरिहंत का आरोपण करना। जैसे, मूर्ति आदि में अरिहंत की स्थापना करने पर अरिहंत के गुण उसमें नहीं आते। वह तो एक आकार है। वस्तुतः स्थापना असली वस्तु को समझने के लिए संकेत मात्र है। जैसे, भूगोल के नक्शे में कोई निशान बना कर कह दिया जाता है कि यह हिमालय है, यह अरावली पर्वतमाला है, यह विंध्याचल है, यह झील है, यह अमुक नगर है आदि। जंबुद्वीप के बीच में एक बिंदु रख दिया जाता है, उसे मेरु पर्वत कहा जाता है। यह स्थापना निक्षेप है। **3. द्रव्य अरिहंत**—तीर्थंकर नाम-कर्म-बंधन के बाद जब तक तीर्थंकर पद की प्राप्ति न हो, तब तक वे द्रव्य तीर्थंकर कहलाते हैं। जैसे भगवान महावीर के शासन में नौ व्यक्तियों ने तीर्थंकर-नाम-कर्म का बंध किया—श्रेणिक, सुपार्श्व, शंख, सुलसा, रेंवती, पोट्टिल अनगार, दृढ़ायु, शत्तक—ये सब वर्तमान में द्रव्य तीर्थंकर हैं। **4. भाव अरिहंत**—वर्तमान समय में जो तीर्थंकर हैं, वे भाव अरिहंत कहलाते हैं।

उपरोक्त चार निक्षेपों में गुण निष्पन्न होने के कारण भाव अरिहंत ही वंदनीय, नमस्करणीय, प्रार्थनीय, स्मरणीय एवं स्तुत्य हैं। वे जब इस पद पर होते हैं, तब भी वंदनीय हैं और अघाती कर्मों से मुक्त हो जब 'सिद्ध' पद को प्राप्त होते हैं, तब भी वंदनीय हैं। यही कारण है 'शक्रस्तुति' में[9] **'संपत्ताणं णमो जिणाणं जियभयाणं'**—कह कर सिद्धों को नमस्कार किया गया है और **संपाविउकम्माणं णमो जिणाणं जियभयाणं**—कह कर अर्हतों को नमस्कार किया गया है। अरिहंत हमारे आदर्श हैं, सिद्धि हमारा लक्ष्य है। वस्तु सत्य यह है कि अर्हत् व सिद्ध—ये दोनों अवस्थाएं आत्मा का ही पूर्ण विकसित स्वरूप हैं। अतः उस स्वरूप की प्राप्ति हेतु स्तुति के माध्यम से जैन वाङ्मय में अर्हत् व सिद्धों की उपासना, आराधना की जाती है।

जैन वाङ्मय में स्तुति

जैन वाङ्मय में स्तोत्र, स्तव और स्तुति की परंपरा बहुत प्राचीन रही है। सूत्रकृतांग में 'वीरत्थुई', आवश्यक सूत्र में 'चतुर्विंशति स्तव', 'शक्रस्तुति', 'नंदी की स्थिरावली'—ये सब प्रसिद्ध स्तुति प्रकरण हैं। विघ्न निवारण के लिए आगमोत्तर काल में अनेक आचार्यों ने अनेक स्तुति ग्रंथ लिखे हैं। चाहे वे विघ्न-बाधाएं ग्रह कृत हो, मनुष्य कृत हो, देव कृत हो, परिस्थिति कृत हो अथवा मनोविकृति कृत हो। यद्यपि ऐहिक सिद्धि के निमित्त से जैन परंपरा में मंत्र-विद्या का प्रयोग निषिद्ध है, पर जैन शासन की उन्नति और प्रभावना की दृष्टि से आचार्यों को मंत्र आदि विद्या का वेत्ता होना आवश्यक भी कहा गया है।

चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रभाचंद्र द्वारा लिखित प्रभा चरित्र इसी कोटि का ग्रंथ है, जिसमें मंत्र-विद्या निष्णात प्रभावोपन्न आचार्यों का वर्णन है। पूर्वगत मंत्र-विद्या और उत्तरवर्ती मंत्र-साहित्य के बीच में हम कतिपय प्राकृत ग्रंथों के नाम पाते हैं, जिनमें सिद्ध प्राभृत, योनि प्राभृत, निमित्त प्राभृत तथा विद्या प्राभृत के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब वर्तमान में अप्राप्य हैं। केवल योनि प्राभृत ही अंशतः प्राप्य है।

जैन परंपरा में यद्यपि प्राचीन साहित्य स्वल्प मात्रा में ही उपलब्ध रहा है। फिर भी अनेक रूपों में उसका विकास होता गया है। परिणामस्वरूप नमस्कार कल्प, लोगस्स कल्प, शक्रस्तुति कल्प, उवसग्गहर स्तोत्र कल्प, तिजयपहुत कल्प, भक्तामर कल्प, कल्याणमंदिर कल्प, ऋषिमंडल कल्प व मंत्र निर्मित हुए। वर्धमान विद्या कल्प, ह्रींकार कल्प आदि का भी बहुत प्रचलन हुआ। आचार्य के लिए सूरिमंत्र की उपासना का एक विशेष क्रम रहा। ये कल्प विघ्न-निवारण के अचूक उपाय माने गए हैं।

भक्तामर स्तोत्र मंत्रगर्भित स्तोत्र है। इसमें मंत्राक्षरों की ऐसी संयोजना है कि स्तोत्र-जप से सारा काम अपने-आप हो जाता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भक्तामर के कई कल्प तैयार किए। इसके प्रत्येक श्लोक की विधि, मंत्र और तंत्र निर्मित हुए। इसके साथ अनेक मंत्रों का विकास, उनको सिद्ध करने के उपाय और लाभों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। आदिनाथ भगवान की स्तुति में निर्मित एक शक्तिशाली, चामत्कारिक एवं प्रभावशाली स्तोत्र है। निर्जरा की विशुद्ध भावना से उच्चरित यह स्तोत्र महाप्रभावशाली माना गया है।

आचार्य भद्रबाहु ध्यान के पुरस्कर्ता एवं अनेक विद्याओं के पारंगत आचार्य थे। उन्होंने संघ के निवेदन पर उपद्रव निवारणार्थ 'उवसग्गहर स्तोत्र' की रचना की। उससे उपद्रव शांत हो जाते हैं।

स्तोत्र प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं—1. पाठ सिद्ध, 2. साधना सिद्ध। पाठ सिद्ध होने के कारण 'उवसग्गहर स्तोत्र' का पाठ करते ही अधिष्ठाता देव उपस्थित हो जाता और विघ्न-निवारण कर देता है। फिर किसी कारणवश उस देव के निवेदन पर आचार्य भद्रबाहु ने स्तोत्र के कुछ पद्य निकाल दिए, जिसके कारण देव का साक्षात आना बंद हो गया, पर विघ्न-निवारण का प्रभाव ज्यों-का-त्यों बना रहा।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने अपने जीवन काल में अनेक बार विघ्न-निवारणार्थ स्तुतियों की रचना की और उनसे लाभान्वित भी हुए। आज भी उन स्तुतियों का यथावत प्रभाव है। बीदासर में जब रात्रि के समय अंगारों की वर्षा हुई, तब जयाचार्यश्री के अतिरिक्त सभी साधु अचेत हो गिर पड़े। उस समय जयाचार्यश्री ने मंगल-करण और विघ्न-निवारण हेतु अपने परम इष्ट, परम गुरु आचार्यश्री भिक्षु की स्तुति की। विघ्न का निवारण हो गया। इसी प्रकार एक बार किसी शारीरिक उपद्रव के निवारण हेतु उन्होंने मंगल का प्रयोग किया, जिससे उपद्रव शांत हो गया। यह 'मंगल स्तुति' इस प्रकार है—

विघ्न हरण मंगल करण, स्वाम भिक्षु रो नाम।
गुण ओलख सुमिरन कर्‌यां, सरै अचिंत्याकाम।।

यह उनका मंगलकरण और विघ्नहरण मंत्र था। जब श्रुतकेवली और बहुश्रुत आचार्यों द्वारा निर्मित स्तोत्र भी इतनी शक्ति अपने भीतर संजोए होते हैं, तो उस स्तोत्र की शक्ति का तो क्या कहना जो वीतराग वाणी से उद्‌भूत है। 'नमिऊण स्तोत्र', 'लोगस्स', 'शक्रस्तव' तो वीतराग पुरुषों की वाणी है।

'लोगस्स' एक मंत्रगर्भित स्तवन है। इसमें मंत्राक्षरों की ऐसी अनुपम और बेजोड़ संयोजना है कि इसके स्तवन, ध्यान, जप अथवा स्वाध्याय से असाध्य कार्य भी साध्य हुए हैं। इस स्तवन का एक-एक अक्षर महाशक्ति पुंज है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में निर्मित इस स्तवन को स्तुति साहित्य का महत्त्वपूर्ण पाठ माना गया है। संकल्प-शक्ति, इच्छाशक्ति और मनःशक्ति को विकसित करने के लिए इससे निस्सृत अनेक मंत्रों की रचना उपलब्ध है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'लोगस्स' के कई कल्प बनाए हैं। जिनमें साधना, आराधना एवं मंत्राक्षरों की अनेक विधियां प्राप्य हैं।

मंत्र रहस्यों के पारगामी मंत्रविद् आचार्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने निर्मलता, तेजस्विता और गंभीरता आदि गुणों के विकास हेतु एक रहस्य पूर्ण मंत्र की संयोजना की जिसका प्रभाव अचिंत्य है। वह मंत्र जप से ही अनुभव-गम्य है। वह मंत्र है—

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अ सिआ उसा नमः आरोग्ग बोहि लाभं समाहि वर मुत्तमं दिंतु चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा सागर वर गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः।। इस मंत्र की प्रतिदिन एक माला जपने का कहा गया है और इसके परिणामस्वरूप आरोग्य, बोधि, समाधि, निर्मलता, तेजस्विता, गंभीरता आदि गुणों का विकास माना गया है।

तीन लोकों के ऊपर लोकांत (मोक्ष स्थान) में सिद्ध परमात्मा का निवास है। वे शाश्वत ज्ञान व सुख के आगार हैं। वे पुण्य और पाप से निर्लिप्त हैं। केवल निर्मल-ध्यान से ही उसकी प्राप्ति संभव है। जिस प्रकार मलिन दर्पण में रूप दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार मलिन चित्त में, चित्त की चंचलता में परमात्मा का भान नहीं होता। परमात्मा विश्व के मस्तक पर विराजमान हैं और विश्व उनके ज्ञान में—क्योंकि वह सबको जानता है। जैन दर्शन के अनुसार सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, पर उनमें कोई अंतर नहीं है। सबका स्वरूप एक समान है। वह न तो इंद्रिय गम्य है और न केवल शास्त्राभ्यास से ही उसे जान सकते हैं। वह केवल एक निर्मल-ध्यान का विषय है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मुक्ति वह शक्ति है, जो जीव को शिवत्व और सिद्धत्व की आभा से देदीप्यमान बनाती है। अर्हत् परमात्मा के मांगलिक वचनों से आत्मा का कालुष्य क्षीण होता है, कषायजन्य अशांति दूर होती है और विकारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तब जीवन में आनंद हिलोरें लेने लगता है। एक विकारहीन आदर्श का

शेष पृष्ठ 53 पर

मंदिर, मसजिद, गुरुद्वारे अथवा धर्मस्थानों में उमड़ती भीड़ को देख कर, उसे ही वास्तविक धर्म समझने की हम भूल न करें। जब तक आत्मा की खोज नहीं की जाती, तब तक बाहरी कर्मकांड न तो उद्धार कर सकते हैं, न ही तीर्थयात्रा ही हमें शुद्ध कर सकती है। वास्तविक मुक्ति तो आत्मा का साक्षात्कार और पूर्वजन्म की कड़ी का साक्षात्कार करने पर ही हो सकती है, नहीं तो युवावर्ग तो धर्म को ढकोसला ही मान रहा है। पूजा-पाठ, उपासनाओं से उसके बौद्धिक चित्त में प्रतिक्रिया ही उत्पन्न हो रही है।

मन : कैसे हो सम्यक् नियोजन; कैसे पहचानें

□ मुनि किशनलाल □

भारतीय मनीषा ने मन के स्वरूप की व्याख्या करते हुए बताया है—**'मननात् मनः**—मनन करने वाली शक्ति को मन कहा गया है।' मन के बारे में यहां तक कहा गया है कि मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधन्मोक्षयोः'**—अगर सम्यक् रूप से देखा जाए तो मानव-मन अपने आप में एक विशिष्ट उपलब्धि है। जिसके द्वारा मनुष्य चिंतन, मनन, कल्पना और स्मृति का उपयोग करता है और अपने कार्य को आगे बढ़ाता है।

मन को नियंत्रित करना और उसका सम्यक् नियोजन करना मनीषियों का विशिष्ट कार्य रहा है। मन को कैसे पहचानें, कैसे जानें कि यह मन है? इसके उत्तर में मनीषीगण कहते हैं—'जब हम किसी विषय पर चिंतन करते हैं, कल्पना करते हैं या स्मृति करते हैं तो मन पैदा हो जाता है। अन्यथा वह अ-मन की अवस्था में चला जाता है।'—मन कोई इंद्रिय नहीं है। इंद्रियां न कामी हैं, न भोगी। वे मात्र द्वार हैं। बाहर से आने वाले हर विषय को ग्रहण करने वाली एक 'माध्यम' हैं—इंद्रियां। इसके अलावा इनकी कोई अहमियत नहीं है। निर्णय का भाव पैदा करने वाला तो मन है, जिसे यदि रस आता है, तो वह दोबारा मांग कर सकता है, अन्यथा इनकार भी कर देता है। भारतीय मनीषा में मन को नियंत्रित और नियोजित करना जीवन की सार्थकता और सफलता का सूत्र माना गया है।

मन न तो शरीर की तरह दृष्टिगोचर होता है, न ही वह अपने अस्तित्व की कोई भौतिक प्रत्यक्षीकरण संबंधी अवधारणा ही गोचर होने देता है। इस चंचल, चपल, कभी दृश्य, कभी अदृश्य, कभी इंद्रियानुभूत, कभी इंद्रियातीत मन को पकड़ने, उसका व्यवस्थित और सम्यक् अध्ययन करने का काम योगियों, दार्शनिकों और शास्त्रकारों ने गहनता से किया है।

एक समय तक मनोविज्ञान का अध्ययन दर्शनशास्त्र के एक भाग के रूप में ही होता था। अब दर्शन से मुक्त होकर मनोविज्ञान स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ रहा है। आज मनोविज्ञान ऐसे उत्कर्ष पर पहुंच गया है जहां वह एक सम्मानित, स्वतंत्र और आकर्षक विषय के रूप में प्रतिष्ठित है। जो मन पकड़ में नहीं आता, उस मन को तथा उसके कार्यकलापों को मनोवैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक आधार दिया है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में मन का विश्लेषण करने के पश्चात् मनोविज्ञान

मन के कार्यकलाप और व्यापार तक ही सीमित नहीं है, उसे शुद्ध वैज्ञानिक धरातल पर भी प्रतिष्ठा मिली है।

ईसा से पूर्व छठी शताब्दी के दार्शनिकों के विचारों में अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं की विवेचना मिलती है। 'डेमोक्रेट्स' (Democritus—460-370 B.C.) ने सर्वप्रथम विश्व का आणविक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार द्रव्य और मानव की रचना छोटे गतिशील परमाणुओं से हुई है। मानव शरीर को यदि परमाणु जीवन या आत्मा को रूप प्रदान करते हैं—आत्मा के निर्माण की बात यदि थोड़ी देर के लिए न भी की जाए और मन को ही लेकर आगे बढ़ा जाए—तो जैन दार्शनिकों ने मन की रचना में मनोवर्गणा के परमाणुओं को स्वीकार किया है। मनःपर्यवज्ञानी उन परमाणुओं का विश्लेषण कर उनके भावों को प्रकट कर सकते हैं। जैन आगमों का एक और उल्लेख जयाचार्यश्री ने अपनी 'चौबीसी' की रचना में प्रस्तुत किया है। अनुत्तर विमान के देवता अपने शंका-समाधान के लिए कुछ प्रश्न मनोभाव से प्रस्तुत करते हैं, जिसका प्रत्युत्तर जिन-तीर्थंकर केवलज्ञानी मनोवर्गणा के पुद्गलों से प्रस्तुत करते हैं। अनुत्तर विमान के देवताओं की शंकाएं उससे समाहित हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मन ज्ञान का एक साधन है।

'अगस्टाइन' (St. Augustine—354-430) का विचार है कि अंतर्दर्शन विधि के द्वारा अधिक शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। उनने यह भी विचार व्यक्त किया है कि मन अथवा आत्मा की मुख्य शक्ति इच्छाशक्ति है जो आदतों, क्रियाओं और विश्वास के कारण के रूप में उत्तरदाई है। 'अगस्टाइन' और 'अरस्तू' के विचार ही पंद्रहवीं शताब्दी तक प्रचलित रहे हैं।

'एक्वीनास' (St. Thomas Aquinas—1225-1274) ने 'अरस्तू' के विचारों और साथ ही 'अगस्टाइन' के विश्वास और इच्छा संबंधी संप्रत्ययों को स्वीकार किया है। उनने 'अरस्तू' के आत्मा संबंधी विचारों में संशोधन भी किया है।

'डेकार्टे' (Descartes—1596-1650) ने 'एक्वीनास' के विचारों का खंडन करते हुए मनुष्य के द्वैतवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार मन और शरीर एक-दूसरे से भिन्न हैं, परंतु साथ-ही-साथ मन और शरीर में अंतःक्रिया भी होती है। उनने विश्वास व्यक्त किया है कि मन शरीर को प्रभावित करता है और शरीर मन को प्रभावित करता है।

'जॉन लॉक (John Locke—1632-1704) ने आधारभूत पर्यावरण संबंधी दृष्टिकोण अपनाया है। उनने विचार व्यक्त किया है कि मन कोरे कागज की भांति है, जिस पर ज्ञानेंद्रियों द्वारा ज्ञान प्रविष्ट होता है और विचार संवेदी प्रभावों द्वारा अंकित होते हैं। कुछ अन्य ब्रिटिश दर्शनशास्त्रियों, यथा—'ह्यूम', 'हार्टले', 'मिल' और 'बेन' आदि ने भी 'लॉक' के समान विचार व्यक्त किए हैं। इन सभी का यह विश्वास है कि 'अरस्तू' द्वारा प्रतिपादित नियम—ज्ञान, विचार, प्रतिमान आदि के चयन, एकत्रीकरण और संरचना आदि में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं।

'बर्कले' (Berkeley—1685-1753) का विचार है कि दूरी प्रत्यक्षीकरण में मस्तिष्क को 'रेटिना' से भिन्न आकारों की सूचना की आवश्यकता होती है। उनने यह तर्क दिया है कि अंततोगत्वा वास्तविकता मन में स्थापित रहती है। वातावरण में उपस्थित पदार्थों में वास्तविकता स्थापित नहीं होती है।

'फ्लोरेंस' (Flourens—1794-1867) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह प्रदर्शित किया है कि मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भाग व्यवहार के भिन्न-भिन्न प्रकार्यों से संबंधित होते हैं।

'ब्रोका' (P. Broca—1824-1880) ने अपने अध्ययनों के आधार पर मस्तिष्क में 'स्पीच-एरिया' की खोज की। एक अन्य प्रयोग में 'फ्रिट्स' और 'हिटजिग' (Fritsch and Hitzig—1870) ने मस्तिष्क से उस क्षेत्र की खोज की, जो प्राणी के गत्यात्मक प्रकार्यों का नियंत्रण करता है। 'रेमंड' (Du Bois Raymond—1849) ने अपने प्रयोग के आधार पर यह प्रदर्शित किया कि स्नायविक क्रिया को मापा जा सकता है और यह बताया कि स्नायविक क्रिया में विद्युतीय आवेग होता है।

'हैल्महोज' (Helmholtz—1850) ने अपने प्रयोगों के आधार पर प्रदर्शित किया कि प्रत्येक स्नायविक प्रवाह के लिए एक विशिष्ट समय की आवश्यकता होती है।

'सेकनॉव (Sechenov—1863) ने अपने प्रयोगों के आधार पर स्थिर किया कि कुछ पशु उद्देश्यपूर्ण क्रियाएं केवल 'स्पाइनल कॉर्ड' द्वारा संचालित सहज क्रियाओं के आधार पर करते हैं। पशुओं की इन उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं के लिए मस्तिष्क के क्रियाशील होने की आवश्यकता नहीं होती है।

'केलर' (F.S. Keller—1937) ने मनोविज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा है कि—मनोविज्ञान दैहिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र का संगठन है। 'केलर' ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि—दैहिकशास्त्र के सामान्य मनोविज्ञान से केवल दैहिकशास्त्र से संबंधित आंकड़े ही प्राप्त नहीं हुए हैं, बल्कि इस विज्ञान से सामान्य मनोविज्ञान को विज्ञान की ओर अग्रसर होने में साधन ही नहीं, एक दिशा भी प्राप्त हुई है।

'वुंट' (Wilhelm Wundt—1832-1920) ने सन् 1879 में विश्व की प्रथम 'मनोविज्ञान प्रयोगशाला' की स्थापना की। उनकी यह प्रयोगशाला जर्मनी के लिपजिग विश्वविद्यालय में स्थापित हुई। उनने संवेदना के तीन तत्त्वों—तीव्रता, अवधि और स्थानीयकरण का अध्ययन किया। उनने अन्य विधियों की अपेक्षा अंतर्दर्शन विधि का प्रयोग अधिक किया। विश्व के तमाम देशों के विद्यार्थी वुंट की प्रयोगशाला में आए और उन्होंने दृष्टि प्रत्यक्षीकरण, श्रवण, स्पर्श, स्वाद, प्रतिक्रिया काल, शब्द-साहचर्य आदि से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया।

फ्रांस के 'बिने' और 'साइमन' (Binet and Simon—1905) ने एक बुद्धि परीक्षण का निर्माण किया, जिसका समय-समय पर संशोधन ही नहीं हुआ, बल्कि अनेक भाषाओं के अनुसार अनुकूलन भी किया गया। इस परीक्षण का परिवर्तित और संशोधित रूप आज भी प्रचलित है।

रूस में 'पेवलॉव' (Pavlov—1849-1936) ने 'सेक्नॉव' के 'रिफ्लेक्सोलॉजी' से संबंधित कार्यों को आगे बढ़ाया। 'कंडीशंड रिफ्लेक्स' पर उनका कार्य अधिक प्रसिद्ध है। उन्हें 'कंडीशंड रिफ्लेक्स' से संबंधित अध्ययनों के लिए 'नोबेल' पुरस्कार भी मिला।

दर्शनशास्त्र के एक अंग के रूप में मनोविज्ञान का अध्ययन भारतवर्ष में प्रारंभ से ही किया जाता रहा है। विश्वविद्यालय इसे दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम के अंग के रूप में स्वीकार करते थे।

भारत में सर्वप्रथम मनोविज्ञान प्रयोगशाला की स्थापना कोलकाता विश्वविद्यालय में सन् 1916 में डॉ. एन. एन. सेनगुप्ता ने की। वर्तमान में पचासों विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान की शिक्षा स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर दी जा रही है। सन् 1925 में 'इंडियन साइंस कांग्रेस' ने इस विषय को अपने वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित किया। तब से आज तक देश में मनोवैज्ञानिक अनुसंधान कार्य हो रहे हैं और 'इंडियन साइंस कांग्रेस' में उन पर चर्चा भी होती रही है।

भारत में मनोविज्ञान का विकास सन् 1925 से तीव्रगति से हुआ। मैसूर विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान प्रयोगशाला की स्थापना सन् 1924 में प्रो. 'स्पीयरमैन' के शिष्य डॉ. एम. वी. गोपालस्वामी के द्वारा की गई। सन् 1926 में 'इंडियन जरनल ऑफ साइकॉलोजी' की स्थापना हुई। सन् 1942 में 'जरनल ऑफ एजुकेशन एंड साइकॉलोजी' की स्थापना हुई।

दर्शनशास्त्रियों ने दर्शन को इंद्रिय, मन और अतींद्रिय क्षमताओं से विश्लेषित किया है, किंतु प्रयोगात्मक ढंग से जो कार्य अपेक्षित है, वह नहीं किया गया है। अब ऐसा समय आ चुका है, जब हमारे सामने दर्शनशास्त्र के सत्यों की ओर विज्ञान ने गति करनी शुरू कर दी है। अब लोगों को केवल श्रद्धा और विश्वास से प्रभावित नहीं किया जा सकता। नौजवान वर्ग विज्ञान की प्रामाणिकता ही स्वीकारते हैं। बहुत हुआ तो कुछ लोग दर्शन में विश्वास करते हैं, पर आखिर क्या कारण हो सकता है कि इतना प्राचीन होते हुए भी धर्मशास्त्र आकर्षक नहीं रहा है और विज्ञान इतना नया है, फिर भी वह सर्वाधिक आकर्षक है?

धर्मशास्त्र का आधार जिन स्तंभों पर खड़ा है, उनमें से एक है—आत्मा का अस्तित्व। अर्थात्—शरीर के अलावा भी एक अस्तित्व है और उसका अनुभव हो, इसके लिए कोई भौतिक प्रमाण नहीं है। एक अन्य स्तंभ है—कर्मवाद, कर्म और कर्मफल का सिद्धांत। इसके साथ

ही कर्म के इस चक्र में आत्मा का संसार में बार-बार जन्म लेना, यानी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत। हमें इन सभी को वैज्ञानिक आधार और स्वरूप प्रदान करना होगा। वैज्ञानिक मन वाला आज का युवावर्ग सिर्फ विज्ञान सम्मत सचाई को स्वीकार करता है।

क्या पूर्वजन्म सत्य है? यह एक प्रश्न है। यह प्रश्न यदि सुलझ जाए तो युवा-चेतना को फिर से धर्म और साधना की ओर गतिशील किया जा सकता है। दर्शनशास्त्रियों, साधकों, संतों व आचार्यों को पूर्वजन्म व पुनर्जन्म संबंधी तथ्यों को वैज्ञानिक आधार देने पर इसलिए इतना जोर डाला जा रहा है कि अगर यह गुत्थी सुलझा ली जाए, तो आत्मा की अमरता और कर्मफलवाद, दोनों ही पुष्ट हो जाएंगे। तभी सच्चा धर्म प्रारंभ होगा।

मंदिर, मसजिद, गुरुद्वारे अथवा धर्मस्थानों में उमड़ती भीड़ को देख कर, उसे ही वास्तविक धर्म समझने की हम भूल न करें। जब तक आत्मा की खोज नहीं की जाती, तब तक बाहरी कर्मकांड न तो उद्धार कर सकते हैं, न ही तीर्थयात्रा ही हमें शुद्ध कर सकती है। वास्तविक मुक्ति तो आत्मा का साक्षात्कार और पूर्वजन्म की कड़ी का साक्षात्कार करने पर ही हो सकती है, नहीं तो युवावर्ग तो धर्म को ढकोसला ही मान रहा है। पूजा-पाठ, उपासनाओं से उसके बौद्धिक चित्त में प्रतिक्रिया ही उत्पन्न हो रही है।

धर्मस्थानों एवं साधु-संतों के आडंबरपूर्ण कार्यों में लगने वाला अरबों-खरबों रुपया यदि शोधकार्यों में लगे, तो धर्म की पुनःस्थापना हो सकती है। भारतीय ऋषियों और महापुरुषों ने विशिष्ट अतींद्रिय ज्ञान के बल पर जिन कालातीत सचाइयों का अनुभव किया, क्या उसको शोध, समन्वित, प्रयोगसिद्ध, विज्ञानसम्मत ढंग एवं स्वरूप में जन-जन तक पहुंचाया जा सकता है? हमारा मत है कि सर्वप्रथम करणीय कार्य पर ध्यान देना चाहिए। आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म के आंकड़ों को संकलित करने के साथ-साथ नवीन शोध कार्य करवाना चाहिए।

अतींद्रिय क्षमता संपन्न लोगों को—जहां-जहां वे हों—साथ लेकर प्रयोगशाला के स्तर पर यदि वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से दर्शन एवं धर्म की सचाइयों को सम्यक् रूप में प्रस्तुति दी जा सकती है, तो आशंकाओं के बादल छंट सकते हैं।

अतीत में किए गए कर्मों का वर्तमान में भोग—इस तथ्य को विश्लेषित कर हम समाज और राष्ट्र में व्याप्त हिंसा, क्रूरता आदि दुष्कृतियों से छुटकारा दिलवाने का मार्ग खोल सकते हैं। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होते हैं—यह तथ्य यदि चेतना के स्तर पर सिद्ध हो जाता है, तो यह सीख देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि आप अच्छे बनिए, या बुराई का त्याग कीजिए। फिर तो बिना उपदेश किए भी अच्छे आचरण की संभावना बन सकती है। तब कोई भी प्रलोभन किसी सचेत साधक से दुष्कृत नहीं करवा सकेगा। एक व्यक्ति बदलेगा, तो कई व्यक्ति बदलेंगे। एक दीप जलेगा, तो कई दीप जल जाएंगे। कई व्यक्ति बदलेंगे, तो राष्ट्र बदलेगा।

उपरोक्त विचार और क्रियान्विति के लिए हर चिंतनशील व्यक्ति की सहभागिता आवश्यक है। वर्तमान समय में मन से संबंधित समस्याएं पूरे विश्व में अपनी जड़ें जमा रही हैं। पहली समस्या है—तनाव की। कारण कुछ भी हो सकते हैं, पर समस्या के समाधान की जिम्मेवारी मनोवैज्ञानिकों, दार्शनिकों और अध्यात्म प्रेमियों पर आती है। हालांकि योग और दर्शन ने ध्यानयोग की व्यापकता के द्वारा मार्गदर्शन करने का पर्याप्त प्रयास किया है, फिर भी तनाव की समस्या इतनी विशाल और व्यापक है कि इसके लिए सामूहिक और विश्वस्तरीय प्रयास होने आवश्यक हैं।

जो व्यक्ति ध्यान, योग और प्राच्य विद्याओं के अभ्यासी हैं या रुचि रखते हैं, उन्हें अपने आस-पास, जहां भी समस्या है, उसके समाधान के लिए—ध्यान, योग, आयुर्वेद, प्राकृतिक एवं वैकल्पिक चिकित्सा माध्यमों के द्वारा काम करना चाहिए। ये प्रयास यदि संगठित एवं समन्वित ढंग से आगे बढ़ें तो बेहतर परिणाम आ सकते हैं। ❖

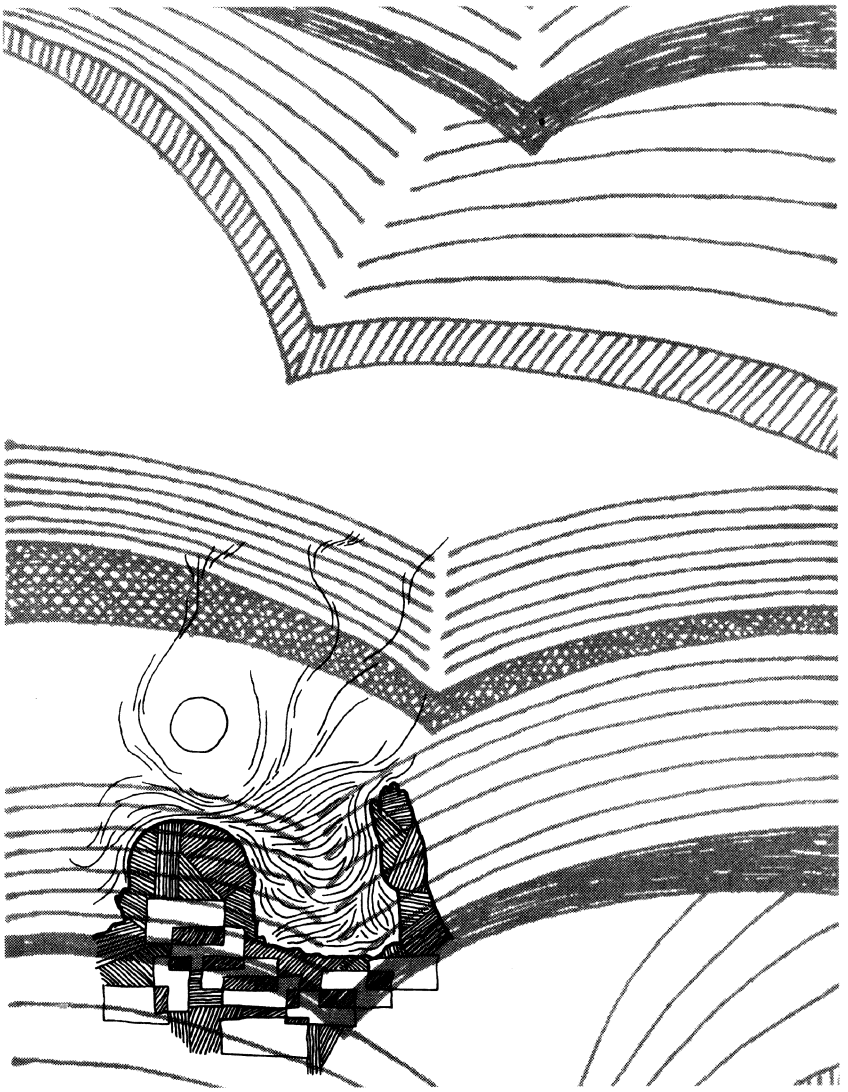

अनुभूति

सच के बहुत कम मित्र होते हैं
और जो थोड़े से हैं
आत्महंता हैं।

—एंतोजिओ पोर्चिया

अंग्रेजी से अनुवाद : **अशोक वाजपेयी**

हमें अनासक्त होने की साधना करनी चाहिए। यह साधना तभी हो सकती है, जब मन में दुःख-मुक्ति की भावना हो और परमसुख पाने का लक्ष्य हो। हमें दुःख-मुक्त होना है, परमसुखी बनना है—तो फिर आसक्ति को छोड़ना होगा। आसक्ति के जाल से अपने आपको निकालना होगा, सुख का साम्राज्य तभी प्राप्त हो सकेगा। हम आत्मवाद पर भी विचार करें। आत्मवाद भी एक प्रमुख सिद्धांत है। कर्मवाद भी आत्मवाद के साथ जुड़ा हुआ है। यद्यपि दार्शनिक जगत में आत्मा, कर्म और लोक के संदर्भ में विभिन्न मत रहे हैं, पर इनमें कहीं-कहीं एकमत का अवलोकन भी होता है और कहीं वैमत्य भी नजर आता है।

परमसुखी बनें; आसक्ति छोड़ें, आत्मवाद पर सोचें

□ आचार्यश्री महाश्रमण □

जब आदमी चिंतन की गहराई में उतरता है तो कई बार ऐसा रत्न प्राप्त हो जाता है, जो बड़ा बहुमूल्य होता है। जिस प्रकार कल्पांत के समय समुद्र का पानी फेंका जाता है—तभी रत्न प्राप्त किए जा सकते हैं, उसी प्रकार जब अज्ञान रूपी कल्मष दूर हो जाता है, तब भीतर में जो रत्न हैं—वे हमें दिखाई देने लग जाते हैं। हम प्राचीन ग्रंथों को देखें—ऋषियों-महर्षियों और साधकों ने जो विशेष अनुभूतियां कीं और उन पर यदि अनुप्रेक्षा की जाए तो हमें कुछ विशेष उपलब्धियां हो सकती हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्वाध्याय के पांच प्रकार बताए गए हैं। उनमें एक है—अनुप्रेक्षा। साधना के अनेक प्रयोगों में अनुप्रेक्षा का भी एक प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है। अनुप्रेक्षा चिंतन-मनन की एक स्थिति है। अचिंतन का महत्त्व है और चिंतन का भी बड़ा महत्त्व है।

दो लोकोपयोगी ग्रंथों की तुलनात्मक विवेचना

अनुप्रेक्षा ज्ञानाराधना की प्रक्रिया का एक अंग है। स्वाध्याय के पांच प्रकार बताए गए हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। धर्मकथा से पूर्व इन चार तत्त्वों का अभ्यास आवश्यक है। तभी धर्मकथा की अर्हता प्राप्त हो सकती है। पहले वाचना होगी, जिज्ञासा की जाएगी और प्रश्नों का समाधान दिया जाएगा। फिर ज्ञान की परावर्तना का अभ्यास होगा, अनुचिंतन होगा। जिसका स्वयं का ज्ञान अस्पष्ट है, विशेष कुछ जानता नहीं है, आगमों को नहीं पढ़ा है, न सिद्धांत को समझा है—वह व्यक्ति कैसे धर्मकथा कर सकेगा? अतः जब व्यक्ति इन चार प्रक्रियाओं से अच्छी तरह गुजर जाता है, तभी उसे धर्मकथा का अधिकार मिल सकता है।

गुरुदेवश्री तुलसी बड़े धर्मकथी थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में कितने-कितने प्रवचन किए। कितना ज्ञान कंठस्थ किया, कितना अध्ययन किया, कितनी जिज्ञासा की होगी, कितना पुनरावर्तन किया होगा, कितनी अनुप्रेक्षा की होगी—तब वे धर्मकथा के अधिकारी बने होंगे, ऐसा प्रतीत होता है।

अनेक लोग धर्मकथा सुनते हैं, किंतु सुनने के बाद

यदि कुछ अनुप्रेक्षा की जाए तो ज्ञान स्पष्ट हो सकता है। इस संदर्भ में तीन बातें कही जाती हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। श्रवण तो बहुत लोग करते हैं, पर मनन और निदिध्यासन कम व्यक्ति करते हैं। मनन और निदिध्यासन गहराई में जाने की स्थितियां हैं। कुछ लोग गहराई में जाते भी होंगे, किंतु सबके पास इतनी प्रतिभा नहीं होती है। जो प्रतिभाशाली हैं, उनको अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आगम अनुसंधान का कार्य किया, क्योंकि उनकी विशेष प्रतिभा थी। वे तत्त्व की गहराई में पहुंच जाते थे। वैसा अभ्यास हो जाए, तर्कशक्ति निष्पन्न हो जाए और यथार्थ के प्रति आस्था प्रगाढ़ हो जाए, तो अनुप्रेक्षा करना आसान हो सकता है। श्रीमज्जयाचार्यजी बहुत स्वाध्याय करते थे। अपने जीवनकाल के अंतिम कुछ वर्ष तो मानो स्वाध्याय-साधना के लिए ही समर्पित कर दिए थे। वे कई बार फरमाते—'मघजी! आज उत्तराध्ययन सूत्र में नया रत्न मिला है।'—उनका यह कथन अनुप्रेक्षा का सूचक है। वे अनुप्रेक्षा करते और उन्हें रत्न मिल जाते।

जो व्यक्ति प्रज्ञाशील है, जागृत चेतना वाला है—उसके लिए गहरा तत्त्व पाना कठिन नहीं होता। आचार्यश्री भिक्षु के पास प्रज्ञा थी, तार्किक बल था और अनुप्रेक्षा का बल भी था। तभी उन्होंने तत्त्वों का निचोड़ निकाला और आगमों का मंथन किया। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—अनुप्रेक्षा करने से कर्म निर्जरा होती है। आगम आदि का स्वाध्याय करने से, तत्त्वों की गहराई में जाने से हमारे कर्म प्रकंपित हो जाते हैं और वे झड़ने की स्थिति में आ जाते हैं। जो प्रगाढ़ कर्म हैं, वे मंदता की स्थिति में आ जाते हैं। प्रलंबकाल वाले कर्म अल्पकाल की स्थिति में आ जाते हैं। हम एक-एक ग्रंथ का एक लक्ष्य के साथ पारायण करने का प्रयास करें। हमारी बहुश्रुतता जितनी बढ़ेगी, हमें अनुप्रेक्षा में उतनी ही सहायता मिलेगी। आगम-संपादन के कार्य में जो निखार आया, उसमें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का बाहुश्रुत्य मुखर हो रहा है। आगम-अनुसंधान में अनेक ग्रंथों का उपयोग अनुप्रेक्षा से ही संभव हो सका। अनेक ग्रंथों का अध्ययन होने से बात की संगति में सहायता मिलती है। लेखन में भी तब निखार आ जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन सूत्र में जो निर्देश हैं, मनीषी व्यक्ति उन पर मनन करें, अनुप्रेक्षा करें। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। *5/10।।*

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जल में कमल के पत्ते की भांति पाप में लिप्त नहीं हो सकता।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है—

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं।। *25/26।।*

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

ब्राह्मण की यह बहुत सुंदर परिभाषा है। अर्थात् जाति से ब्राह्मण नहीं, जो साधक है, ज्ञानी है—वह ब्राह्मण है। अनासक्ति की साधना करने वाला व्यक्ति महान या ब्राह्मण होता है।

गीताकार ने कहा कि साधक यह अनुभव करे कि मैं कुछ नहीं करता। मैं तो आत्मा हूं। जो कुछ हो रहा है—वह शरीर के द्वारा हो रहा है। शरीर देखता है, शरीर छूता है, शरीर खाता है, शरीर चलता है, शरीर सोता है और शरीर ही श्वास लेता है। सारी प्रवृत्तियां शरीर कर रहा है। मैं तो आत्मा हूं। गीताकार ने कर्मों को, प्रवृत्तियों को भगवान में अर्पित करने की बात कही है। जैन दर्शन इस प्रकार परमात्मा या ब्रह्म को तो नहीं मानता, जो ही कर्ता-धर्ता हो। जैन दर्शन की मान्यता है कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह सब निर्जरा के लिए कर रहे हैं। दसवेआलियं में कहा गया कि—'निर्जरा के सिवाय और किसी उद्देश्य से तपस्या मत करो।'—साधक यह सोचे कि मैं कोई भी काम न प्रशंसा के लिए करूं, न ख्याति के लिए करूं। मात्र निर्जरा के लिए अथवा दायित्व-निर्वाह करने के लिए करूं।

जाहिर है—ग्रंथों की इस प्रकार अनुप्रेक्षा करने से ही उनकी अर्थात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। जिनके पास प्रतिभा है, प्रज्ञा है, बुद्धिबल है—वे ही व्यक्ति सार

तत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। आदमी में 'वीजन' जाग जाए या किसी चीज को पकड़ने की शक्ति जाग जाए—तो अनुप्रेक्षा का अभ्यास सार्थक व सफल सिद्ध हो सकता है।

जहां स्वाध्याय के संदर्भ में अनुप्रेक्षा को एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना गया, वहीं प्रेक्षाध्यान की पद्धति में भी वृत्ति-परिष्कार के लिए अनुप्रेक्षा एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जैसे—किसी आदमी में भय की संज्ञा ज्यादा है, तो उसे अभय की अनुप्रेक्षा का अभ्यास कराया जाता है। किसी में आसक्ति का भाव ज्यादा होता है—तो उसे 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' का प्रयोग कराया जाता है। हम पद्मपत्र को उदाहरण के रूप में सामने रख कर स्वयं के मन को आसक्ति से अलिप्त रखने का प्रयास करें। सामान्यतया आदमी के जीवन में आसक्ति का भाव रहता है। आसक्ति के कारण आदमी विषय-सेवन में भी प्रवृत्त हो जाता है। विषय-सेवन में अतिमात्र प्रवृत्त हो जाने के कारण आदमी जहां एक ओर सघन कर्मों का बंध करता है, वहीं कई बार अपना व्यावहारिक नुकसान भी कर लेता है। आसक्ति का संबंध इंद्रिय-विषयों के साथ होता है। आदमी की आसक्ति शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में होती है, अथवा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति भी हो सकती है।

हमें अनासक्त होने की साधना करनी चाहिए। यह साधना तभी हो सकती है, जब मन में दुख-मुक्ति की भावना हो और परमसुख पाने का लक्ष्य हो। हमें दुख-मुक्त होना है, परमसुखी बनना है—तो फिर आसक्ति को छोड़ना होगा। आसक्ति के जाल से अपने आपको निकालना होगा, सुख का साम्राज्य तभी प्राप्त हो सकेगा।

इसी क्रम में हम आत्मवाद पर भी विचार करें। आत्मवाद भी एक प्रमुख सिद्धांत है। कर्मवाद भी आत्मवाद के साथ जुड़ा हुआ है। यद्यपि दार्शनिक जगत में आत्मा, कर्म और लोक के संदर्भ में विभिन्न मत रहे हैं, पर इनमें कहीं-कहीं एकमत का अवलोकन भी होता है और कहीं वैमत्य भी नजर आता है। आत्मकर्तृत्व के सिद्धांत को कोई दर्शन स्वीकृत करता है, तो कोई उसे अस्वीकृत भी कर देता है। जैसे—नास्तिक दर्शन न परलोक को मानता है, न पुनर्जन्म को मानता है और न पुण्य-पाप के फल को मानता है, पर आस्तिक विचारधारा में आत्मवाद का सिद्धांत मान्य रहा है। कहीं आत्मा को कर्मों का कर्ता माना गया है, तो कहीं ईश्वर या परमात्मा को कर्मों का फल देने वाला माना गया है।

जैन दर्शन इस बात को तो नहीं मानता कि परमात्मा या ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता-हर्ता है, अथवा व्यक्ति के सुख-दुख का दाता है, बल्कि आत्मा को वह सबकुछ मानता है। आत्मा को ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता मानता है। आत्मवाद के विचारकों ने कहा कि—तुम जैसा करोगे, वैसा फल पाओगे। तुमने पुण्य का अर्जन किया है, तो तुम्हें शुभ फल मिल जाएंगे और पाप का अर्जन किया है, तो अशुभ फल मिलेंगे। जैसा बोओगे वैसा काटोगे। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।।20/36।।

आत्मा ही सुख-दुख को करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

व्यक्ति के अपने-अपने मित्र होते हैं। कइयों के अनेक मित्र होते हैं। कोई अभिन्न मित्र होता है, तो कोई थोड़ा दूर का होता है। उनमें परस्पर मधुर आलाप-संलाप होता है। दुनिया में सच्चा मित्र मिलना तो कठिन है और सच्चा मित्र वही होता है—जो कठिनाई में भी साथ खड़ा रह सके, आलंबन दे सके, संबल दे सके। मित्र मात्र प्रिय बात ही न कहे, हितकारी बात भी कह सके—भले वह कटु भी क्यों न हो। सच्चे मित्र की ये शर्तें हैं। इन कसौटियों पर खरा उतरने वाला मित्र ही सच्चा मित्र हो सकता है।

मैं यह बताना चाहता हूं कि अध्यात्म की भाषा में दूसरा कोई मित्र नहीं है, वास्तव में आप ही अपने मित्र हैं। आयारो का उद्घोष है—**पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि**—अर्थात् हे पुरुष! तुम ही तुम्हारे मित्र हो। फिर तुम बाहर किस मित्र की खोज कर रहे हो?—जो अपना मित्र स्वयं बन जाता है, उससे अच्छा मित्र दूसरा कौन हो सकता है? हम अच्छे कार्य करते हैं, तो अपने मित्र बन जाते हैं और गलत कार्य करते हैं तो हम अपने ही शत्रु बन जाते

हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मित्र-अमित्र की इस बात को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—

उद्धेरदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। *6/5।।*

अपने द्वारा अपना कल्याण करो। कभी अपने आपको अवसन्न मत करो, क्योंकि आत्मा ही अपना बंधु है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

जो लोग भक्तिवादी या भक्तियोगी हैं—वे परमात्मा के प्रति समर्पित रहते हैं। उनके अनुसार जो कुछ करेगा वह परमात्मा करेगा। जबकि जैन दर्शन के अनुसार साधना द्वारा पूर्ण विशुद्ध होने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाती है। इस प्रकार से अनंत-अनंत आत्माएं परमात्म-पद को प्राप्त हो चुकी हैं और अनंत-अनंत आत्माएं भविष्य में परमात्म-पद को प्राप्त होंगी। जो सृष्टि का कर्ता ईश्वर को मानते हैं—उनसे प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ईश्वर ही निर्माता या कर्ता-धर्ता है—तो फिर ईश्वर का निर्माता कौन होगा?

आत्मकर्तृत्ववाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद—ये दो सिद्धांत हैं। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि स्वभाव से चलती है तथा पुद्गल के संयोग से जीव विभिन्न रूपों वाला है। इस जीव और पुद्गल के संयोग को ही सृष्टि कहा जाता है और सृष्टि में परिवर्तन होता रहता है। आज से लाखों वर्ष पहले सृष्टि का अलग रूप था। आज सृष्टि का जो रूप है, उसमें उन्नीस हजार वर्ष बाद कितना परिवर्तन आ जाएगा? जब छठा अर आयेगा, तब दुनिया की क्या स्थिति बन जाएगी? धर्म की क्या स्थिति रहेगी? साधु-समुदाय की क्या स्थिति रहेगी? सबमें कितना परिवर्तन आ जाएगा? यह सारा परिवर्तन अपने क्रम से होता है।

जैन दर्शन बारह अर वाले कालचक्र को स्वीकार करता है। इसमें विकास और ह्रास का क्रम चलता रहता है। अवसर्पिणी काल ह्रास की ओर ले जाने वाला होता है और उत्सर्पिणी काल विकास की ओर आगे बढ़ाने वाला होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। *5/14।।*

परमात्मा मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं, किंतु स्वभाव ही बरत रहा है।

ईश्वर न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ग्रहण करता है। यह जैन दर्शन से मेल खाने वाली बात है। पुण्य और पाप को करने वाली और उसके फल को प्राप्त करने वाली आत्मा ही है, इसलिए आदमी अपनी आत्मा को निर्मल बनाए रखे। व्यक्ति को दुष्प्रवृत्ति से अपनी आत्मा को बचाने का और सत्प्रवृत्ति में उसे नियोजित करने का प्रयास करना चाहिए। सत्प्रवृत्ति के द्वारा स्वयं को मित्र बना कर कल्याण की दिशा में प्रस्थान करने से अवश्य सफलता प्राप्त होगी। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

जीवनविज्ञान ऐसी ही एक प्रायोगिक शिक्षा व्यवस्था है जो विद्यार्थी के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं भावनात्मक विकास के बीच संतुलन स्थापित करना सिखाता है। जीवनविज्ञान का उद्देश्य है—भाव और व्यवहार में परिवर्तन के माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना। जीवनविज्ञान के द्वारा जीने की संपूर्ण कला सीखी जा सकती है। इसमें मनोविज्ञान, शरीर-रचना विज्ञान, अंतःस्रावी-ग्रंथि विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान, आहार विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, समाज विज्ञान आदि अनेक विषयों का शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जाता है, आवश्यक प्रयोग कराए जाते हैं और इन प्रयोगों से विद्यार्थी के ग्रंथि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र प्रभावित होते हैं। ग्रंथि-तंत्र के स्राव ठीक रहें और नाड़ी-तंत्र संतुलित रहे—विकास की सीधी प्रक्रिया यही है।

शिक्षा : लक्ष्य हो जीवन को अच्छा बनाना

साध्वी कल्पमाला

मानवीय सभ्यता और संस्कृति से जुड़ा हुआ एक शब्द है—शिक्षा। व्यक्तित्व का निर्माण करना शिक्षा का काम है। शिक्षा जीवन को सजाती है, शिक्षा जीवन को संवारती है, शिक्षा जीवन को आकर्षण देती है। शिक्षा जीवन को प्रकाश और शक्ति से भरती है। शिक्षा विवेक-चेतना को जागृत करती है। शिक्षा अनुशासन और मर्यादा का पाठ पढ़ाती है। शिक्षा विनम्रता और मृदुता को जन्म देती है। कह सकते हैं कि शिक्षा विकास की अधिष्ठात्री है।

परंतु, विनम्रता के स्थान पर जब अहंकार अपनी जड़ें जमा रहा हो, आत्मानुशासन की जगह स्वेच्छाचार जड़ें जमा रहा हो तो यह प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या इसी का नाम शिक्षा है?

5 सितंबर
शिक्षक दिवस विशेष

हर देश, समाज और परिवार यह चाहता है कि शिक्षा के माध्यम से एक अच्छी पीढ़ी का निर्माण हो। समाज बुराइयों से ऊपर उठे, लेकिन वर्तमान की शिक्षा प्रणाली की यह बड़ी विडंबना है कि वह शिक्षित और अशिक्षित के बीच विवेक की स्पष्ट रेखा नहीं खींच रही है। शिक्षा हो और समस्या का समाधान न हो, वह तो अधूरी शिक्षा ही कही जा सकती है।

आज सबसे बड़ी समस्या जीवनमूल्यों की है। विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में पर्याप्त विकास होने के बावजूद जीवनमूल्यों का ह्रास सबसे बड़ी चिंता का विषय है। विद्यार्थी के जीवन में जब तक मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं होगी, वह संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकेगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'हमारी आकांक्षा है कि हमारी आने वाली पीढ़ी अपने देश और समाज की बनावट के अनुरूप अपने व्यक्तित्व का निर्माण करे। वह संस्कारी बने, अनुशासित बने, चरित्र-संपन्न बने, व्यसनमुक्त बने और अपनी संस्कृति को जीने वाली बने।' इसके लिए अपेक्षा है कि विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ उसका भावनात्मक विकास

भी हो। इसी के लिए आचार्यश्री तुलसी के निर्देशानुसार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवनविज्ञान शिक्षा का एक पाठ्यक्रम निर्धारित किया। जीवनविज्ञान के द्वारा विद्यार्थी में विधेयात्मक भावधारा का संचार हो सकता है। जीवनविज्ञान से व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है।

मनुष्य में दो प्रकार के भाव होते हैं—विधेयात्मक भाव और निषेधात्मक भाव। विधायक भावों से शक्ति का जागरण होता है और निषेधात्मक भावों से आचार एवं व्यवहार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से विद्यार्थी में विधायक भावों का विकास आवश्यक है, पर यह काम उपदेश से नहीं हो सकता। इसके लिए प्रायोगिक शिक्षा की अपेक्षा है।

जीवनविज्ञान ऐसी ही एक प्रायोगिक शिक्षा व्यवस्था है जो विद्यार्थी के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं भावनात्मक विकास के बीच संतुलन स्थापित करना सिखाता है। जीवनविज्ञान का उद्देश्य है—भाव और व्यवहार में परिवर्तन के माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना। जीवनविज्ञान के द्वारा जीने की संपूर्ण कला सीखी जा सकती है। इसमें मनोविज्ञान, शरीर-रचना विज्ञान, अंतःस्रावी-ग्रंथि विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान, आहार विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, समाज विज्ञान आदि अनेक विषयों का शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जाता है, आवश्यक प्रयोग कराए जाते हैं और इन प्रयोगों से विद्यार्थी के ग्रंथि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र प्रभावित होते हैं। ग्रंथि-तंत्र के स्राव ठीक रहें और नाड़ी-तंत्र संतुलित रहे—विकास की सीधी प्रक्रिया यही है।

जीवनविज्ञान के द्वारा शिक्षा की अनेक समस्याओं का सहज समाधान हो सकता है तथा एक स्वस्थ, अनुशासित और चरित्र-संपन्न समाज की संरचना का सपना पूरा हो सकता है। जीवनविज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यपरक-शिक्षा का अभिनव प्रयोग है। जीवनविज्ञान के अंतर्गत मूल्यपरक-शिक्षा, स्वास्थ्य, नैतिक और योग शिक्षा का समावेश है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि संपूर्ण मानव-समस्याओं के समाधान के लिए इसका अनुसंधान व विकास किया गया है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में भावात्मक विकास और मनोबल के विकास की रिक्तता को जीवनविज्ञान पूरा करता है। जीवनविज्ञान चारित्रिक शिक्षा और स्वास्थ्य शिक्षा को एक समान महत्त्व देता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवनविज्ञान के माध्यम से अध्यात्म और विज्ञान का अद्‌भुत समन्वय स्थापित किया है। आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण मूल्यपरक शिक्षा से ही साकार हो सकता है। जीवनविज्ञान को सामान्य शिक्षा के साथ जोड़ कर व्यक्ति के भीतर मनोबल, सहिष्णुता, संतुलन की क्षमता, विधायक चिंतनशैली तथा सम्यक् दृष्टिकोण को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया है।

हमारे भौतिक व आध्यात्मिक विकास का बहुमूल्य मंत्र शिक्षा है। शिक्षा के द्वारा जीवन के अनेक पहलुओं पर न केवल चिंतन-मंथन होता है, अपितु सामाजिकता को भी इसी से बढ़ावा मिलता है। समयानुसार शिक्षा की अनेक प्रणालियां बनी हैं, पर कारगर शिक्षा वही होती है जो शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक विकास से युक्त हो। जीवनविज्ञान इन सभी अपेक्षाओं को पूरा करता है। जैसे—**शारीरिक विकास**—आसन, प्राणायाम, यौगिक क्रियाएं आदि। **मानसिक विकास**—हमारा मानसिक विकास कैसे हो, इसके लिए संतुलित आहार, प्रेक्षाध्यान, एकाग्रता, जागरूकता, चिंतन, तर्कशक्ति, स्मृति, कल्पना-शक्ति और निर्णय-शक्ति अर्जित करने हेतु जीवनविज्ञान में कई प्रयोग बताए गए हैं। **भावात्मक विकास**—सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक विधियों से स्वयं के दुखद संवेगों पर नियंत्रण और अच्छे संवेगों का विकास किया जा सकता है। **सामाजिक विकास**—अहिंसा, करुणा, संयम, सहअस्तित्व, स्वावलंबन तथा मानवीय एकता के लिए अनुप्रेक्षा प्रयोग बताए गए हैं। **आध्यात्मिक विकास**—चित्त शुद्धि और राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से छुटकारा पाने के लिए चैतन्य केंद्रों की प्रेक्षा के प्रयोग कराए जाते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने शिक्षा पर बल देते हुए कहा है—'आज की शिक्षा से व्यक्ति ने व्यापार के क्षेत्र में या अन्यान्य क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता हासिल की है, लेकिन जहां आध्यात्मिक विकास की बात आती है,

तो वहां सभी मौन हो जाते हैं। इसलिए अपेक्षा है कि जीवनविज्ञान के द्वारा सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास हो और एक अधूरी शिक्षा को पूर्ण करने हेतु ठोस प्रयत्न हों।'

जीवनविज्ञान के प्रयोग शिक्षक व विद्यार्थी, दोनों के लिए समानरूप से कारगर सिद्ध हो सकते हैं। भाव-परिष्कार और व्यवहार परिवर्तन जीवनविज्ञान के प्रयोगों से ही संभव है। जीवनविज्ञान के प्रयोगों से ही विद्यार्थी के 'माइंड' को 'सुपर-माइंड' बनाया जा सकता है। 'सुपर माइंड' किसका होता है? शिक्षा कौन प्राप्त कर सकता है? यह ऐसा प्रश्न है—जिसका उत्तर कई कोणों से दिया जा सकता है। आगम-वाणी में इस प्रश्न के समाधान में लिखा है—

विवत्ती अविणीयस्स, संपती विणीयस्स च
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ।।

—अविनीत विद्यार्थी को विपत्तियों का सामना करना पड़ता है और विनीत विद्यार्थी के पास संपदाएं आती हैं—इन दो बातों को जो जानता है, वह शिक्षा को प्राप्त कर सकता है।

शिक्षा प्राप्ति की योग्यता के अनेक मानकों में यह एक ऐसा मानक है, जिसको प्रत्यक्ष रूप से समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। जो विद्यार्थी अध्यापक को गुरु मान कर विनीत रहता है, समर्पित भाव से निर्देशों का पालन करता है और कठोर अनुशासन को भी आत्महित मान कर सहन कर लेता है—वह शिक्षा के अज्ञात रहस्यों को खोज कर शिखर पर चढ़ सकता है। जो विद्यार्थी उद्दंड, अनुशासनहीन और अविवेकी होता है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी शिक्षित नहीं हो सकता।

इस सदी के अध्यापकगण अध्यापन के कार्य को केवल पेशा मान कर चलते हैं। विद्यार्थी भी ज्ञानी, वैज्ञानिक, देशभक्त और महान बनने का लक्ष्य सामने रख कर चलते हैं—कहना कठिन है। क्या विद्यार्थी भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए पढ़ते हैं अथवा व्यवसायी या किसी 'प्रोफेशन' (पेशा) का सपना उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित करता है? अध्ययन और अध्यापन का मूल लक्ष्य विद्यार्थी एवं शिक्षक, दोनों के हाथों से ही फिसल गया है—ऐसा प्रतीत होता है। शिक्षा जगत में बढ़ने वाली समस्याओं के मूल में यही एक ऐसी बात है, जिसकी ओर शिक्षाविदों को अपना ध्यान केंद्रित करने की जरूरत है।

पश्चिम के विद्वान फ्रांसिस बेकन का कथन है—'अध्ययन हमें आनंद देता है, योग्यता देता है और जीवन को अलंकृत करता है तथा क्षमता प्रदान करता है।' पर, वर्तमान संदर्भ में यह कथन कितना सच है—यह हम सोच सकते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहा करते थे कि शैक्षणिक संस्थाओं में पुस्तकीय शिक्षा से मस्तिष्क के चेतन भाग को प्रभावित किया जाता है, परंतु उसके अचेतन भाग को बहुत कम प्रभावित किया जा रहा है। चरित्र, स्वभाव और संस्कार का संबंध अचेतन भाग से अधिक है। उसे प्रभावित किए बिना समानता, सहिष्णुता, सहअस्तित्व और प्रामाणिकता जैसे मूल्यों को विकसित नहीं किया जा सकता। पाठ्यक्रम में मानसिक और भावनात्मक शिक्षा न होने से व्यक्ति की ग्रंथियों के स्राव असंतुलित हो जाने की समस्या बराबर सामने आ रही है। आज का पढ़ा-लिखा आदमी धैर्यवान नहीं है। जिनकी बौद्धिक क्षमता उल्लेखनीय होती है, जो अपने विषय के विशेषज्ञ माने जाते हैं, सहनशीलता के अभाव में वे अपनी जीवन-लीला तक समाप्त कर बैठते हैं, सारी योग्यता और क्षमता धरी रह जाती है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि हमारे प्रेरक व्यक्तित्व हैं—यह कौन समझाए? इन या ऐसे आदर्श पुरुषों की कथाओं के द्वारा नैतिक संस्कार भरे जा सकते हैं और सहन करने की शक्ति का विकास हो सके, ऐसे प्रयत्न शिक्षा के जरीए किए जा सकते हैं। इसके साथ ही यदि जीवनविज्ञान के प्रायोगिक प्रयोग चलें, तो हम हमारे मस्तिष्क को सकारात्मक बना सकते हैं। सहन करने की क्षमता इसी तरह जाग्रत हो सकती है।

स्वामी विवेकानंद कहा करते थे—ज्ञान हम सबमें अंतर्निहित होता है। यह बाहर से नहीं आता, यह सबके अंदर है। विश्व में जितना भी ज्ञान है, वह सब हमारे मस्तिष्क के जरीए सामने आया है। अपेक्षा है—उसे सही दिशा में लगाने की।

शेष पृष्ठ 43 पर

सुखी बनने के लिए पदार्थों के प्रति बढ़ते ममत्व को हटाना होगा। मनुष्य को अपना नजरिया बदलना होगा। आनंद की अनुभूति तभी होगी। सुख को कहीं बाहर ढूंढने से वह नहीं मिलेगा, अपितु अपने आपको जाग्रत करने से ही सुख प्राप्त होगा। कस्तूरी की भीनी-भीनी सौरभ पाने के लिए मृग सारे जंगल में भटकता है, जबकि वह सुगंध तो उसकी नाभि से ही निकल रही होती है। अज्ञानता के कारण वह उसे बाहर खोज रहा है। आज का मनुष्य भी भौतिक संसाधनों में ही सबकुछ देख रहा है। जबकि सुख-दुख में सम रहने वाला ही शाश्वत सुख के अनुभव की गहराई तक पहुंच सकता है। दरअसल व्यक्ति के विचार ही उसे सुखी या दुखी बनाते हैं। खुशहाल रहने के लिए हमारी सोच सकारात्मक होनी चाहिए। मनोविज्ञान कहता है कि खुशी किसी भी इनसान को उत्साहित बनाए रखने में मदद करती है। यदि हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें तो पाएंगे कि संतोषी सदा ही सुखी रहता है। अतः सुख और दुख, दोनों में समभाव से रहने की कला का विकास जरूरी है।

❑❑

सुख : बदलें जिंदगी को देखने का अंदाज

❑ साध्वी जयमाला ❑

जीवन में आरोहण-अवरोहण, प्रियता-अप्रियता, अनुकूलता-प्रतिकूलता, मनोज्ञ-अमनोज्ञ जैसे अवसर सदा आते-जाते रहे हैं। जब-जब मनोनुकूल वातावरण होता है तो मन को बड़ा सुख मिलता है। मानव-मन सदैव सुखाकांक्षी ही रहा है। वह आपदा से दूर ही रहना चाहता है। परंतु, जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहना स्वाभाविक है। जब हानि होती है, तो मन एकदम उदासीन हो जाता है। कई बार व्यक्ति अपना संतुलन तक खो बैठता है। ऐसी स्थिति में भगवान महावीर प्रतिबोध देते हैं—

लाभा-लाभे सुहे-दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पसंसासु, तहा माणाव माणओ।।

अर्थात्—लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, मान-अपमान एवं स्तुति-निंदा—इन सब द्वंद्वों में जो सम रहता है—वह प्रज्ञावान।

वर्तमान समय में ऐसा जीवन जीने वाले व्यक्ति इने-गिने ही मिलेंगे। आज हर आदमी को अहंकार और ममकार ने घेर रखा है। चाहे किशोर हो, चाहे युवा हो, प्रौढ़ या वृद्धजन हो—आम आदमी शान-शौकत से जीना चाहता है। 'अमीरीयत' का नशा हर किसी पर हावी हो रहा है। किसी के मन में अरबों-खरबों का मालिक बनने की तमन्ना है, तो किसी को सत्ता की बड़ी कुर्सी तक पहुंचने की अभिलाषा है। छोटी-मोटी अनेक आकांक्षाएं अहर्निश दिमाग में घूमती रहती हैं। असंतुष्ट मनुष्य की इच्छाओं का कोई ओर-छोर नहीं होता है।

आमोद-प्रमोद की समस्त सुविधाओं के बावजूद

भी आदमी भीतर से खाली-खाली-सा महसूस करता है। अपने आस-पास में उसने ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, वैर-विरोध, आक्रोश, आवेग-आवेश और अहंकार जैसी तीक्ष्ण नुकीली कांटों वाली विषबेल उगा रखी है। बेशुमार भौतिक सामग्री होने के बावजूद भी जीवन विषाक्त बन जाता है।

निषेधात्मक भाव श्रेष्ठ अरमानों को भी अस्त-व्यस्त बना देते हैं। अपने जीवनपथ में निषेधात्मक सोच पग-पग पर अवरोध पैदा करती है। जीवन में पतझड़ और मधुमास—दोनों ही आते रहते हैं। एक है—'निगेटिव' विचार और एक है 'पॉजेटिव'। एक है—निषेधात्मक और दूसरा है—विधेयात्मक।

विधेयात्मक, यानी सकारात्मक चिंतन से लाभ-ही-लाभ है। इससे प्रेम, करुणा, आनंद, अपनत्व, सहृदयता, परस्परता, सौहार्द, माधुर्य, तृप्ति, भाईचारा आदि की अभिवृद्धि होती है। चारों ओर खुशियां ही खुशियां नजर आती हैं। विधेयात्मक चिंतन अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करता है। तनाव कोसों दूर चला जाता है। तब हंसमुख, विवेकशील व्यक्ति का सर्वत्र स्वागत होता है। सब आदर की दृष्टि से देखते हैं। सकारात्मक चिंतन से अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जाता है।

सकारात्मक सोच वाला अभाव में भी भाव खोज कर अपनी मंजिल ढूंढ़ लेता है। वह दुख में भी सुख खोज लेता है। बुराई में भी अच्छाई ही देखता है। श्रीकृष्ण तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के दर्शनार्थ जा रहे थे। पूरे शहर की सफाई की जा रही थी, मगर जिस मार्ग से यात्रा चल रही थी, उस रास्ते में एक सड़ी-गली कुतियां मरी पड़ी थी। दुर्गंध से बचने के लिए सब नाक-भौंहें सिकोड़ते हुए एक निश्चित दूरी बना कर निकलते। ज्योंही श्रीकृष्ण निकट आए, तो कुतिया को देख कर कहा—इसकी दांतों की बनावट देखो। कितने सुंदर हैं—श्वेत रंग लिए हुए। अंधेरे में उजाला ढूंढ़ने की यह एक कोशिश है।

प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण और सोच अलग होते हैं। अगर दृष्टि सकारात्मक है, तो थोड़ी सामग्री में भी संतोषपूर्वक जिंदगी गुजारी जा सकती है। अन्यथा अत्यधिक पदार्थ, भोग-परिभोग के साधन तथा ढेर सारे सोना-चांदी, हीरे-पन्ने, लाखों-करोड़ों की जमीन-जायदाद से भी कोई आत्मतोष नहीं पा सकता। क्या ये वस्तुएं किसी को संतुष्टि दे पाई हैं?

हम देख रहे हैं लोग धन-वैभव और भौतिक पदार्थों में आनंद की अनुभूति करना चाहते हैं, पर अति धनाढ्य लोग न आराम से खा सकते हैं और न ही अच्छी और आनंददाई नींद ही ले सकते हैं। क्योंकि उनका दिमाग हर-समय तनाव-ग्रस्त रहता है। धन-वैभव में ही अगर आत्मतोष-सा सुख होता तो बड़े-बड़े राजा और सम्राट अपना भरा-पूरा परिवार, धन-दौलत का त्याग कर संन्यास धारण नहीं करते।

अतः सुखी बनने के लिए पदार्थों के प्रति बढ़ते ममत्व को हटाना होगा। मनुष्य को अपना नजरिया बदलना होगा। आनंद की अनुभूति तभी होगी। सुख को कहीं बाहर ढूंढ़ने से वह नहीं मिलेगा, अपितु अपने आपको जाग्रत करने से ही सुख प्राप्त होगा। कस्तूरी की भीनी-भीनी सौरभ पाने के लिए मृग सारे जंगल में भटकता है, जबकि वह सुगंध तो उसकी नाभि से ही निकल रही होती है। अज्ञानता के कारण वह उसे बाहर खोज रहा है। आज का मनुष्य भी भौतिक संसाधनों में ही सबकुछ देख रहा है। जबकि सुख-दुख, में सम रहने वाला ही शाश्वत सुख के अनुभव की गहराई तक पहुंच सकता है।

दरअसल व्यक्ति के विचार ही उसे सुखी या दुखी बनाते हैं। खुशहाल रहने के लिए हमारी सोच सकारात्मक होनी चाहिए। मनोविज्ञान कहता है कि खुशी किसी भी इनसान को उत्साहित बनाए रखने में मदद करती है। यदि हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें तो पाएंगे कि संतोषी सदा ही सुखी रहता है। अतः सुख और दुख, दोनों में समभाव से रहने की कला का विकास जरूरी है।

सुख के लिए भौतिक वस्तुओं के प्रति मुहताज न बन कर सकारात्मक चिंतन को अपनाने की जरूरत है। ऐसे चिंतन से न केवल मनुष्य स्वयं खुश रह सकता है, अपितु इर्द-गिर्द के वातावरण को भी खुश या सुखी रखा जा सकता है। खुश रहना हर मानी में बेहतर होता है। और, इसके लिए सिर्फ जिंदगी को देखने के अंदाज को बदलने की जरूरत है। ❖

'अच्छा, बताएं कि धरती कभी आसमान से अलग हुई? कोई चीज आपस में अलग हुई? मेरी बुद्धि, क्योंकि सबसे बड़ी है, इसलिए कहता हूं कि जब हमने शब्द बनाए, तो वाक्य बने और वाक्य से परिभाषा और परिभाषा से पर-भाषा हो गई है। है न मेरी अकल बड़ी। वैसे मेरा सबसे छोटा लड़का टिंकू मेरी 'अक्कल' से बड़ी उस 'भैंस' को समझाता है, जो एक खूंटे से अपने को उखाड़ कर खेतों और जंगलों में घास चरने चली जाती है। बुरा मत मानना। मैं जब-जब गुस्सा होता हूं तो अपनी 'अक्कल' पर ही, कि क्यों यह खूंटा छोड़ कर घास चरने जाती है। जबकि घास खूंटे पर ही मिल जाती है। हो सकता है, खूंटा सड़ गया हो, या रस्सी कमजोर पड़ गई हो, या भैंस तंदुरुस्त हो गई हो। वैसे भैंस तंदुरुस्त हो नहीं सकती, क्योंकि उसे दूध भी देना होता है। गाड़ी भी खींचनी होती है और भूख लगने पर 'अड़ाना' भी पड़ता है।'

❑❑

पलायन तो उड़ना होता है

❑ भगवती नौटियाल ❑

मालूम हो कि मैं पहाड़ और अपने विश्वविद्यालय को छोड़ कर बहुत दूर आ चुका हूं। आप लोग सोच रहे होंगे कि मानव शक्ति की एक और इकाई का पलायन हुआ। पलायन तो उड़ना होता है और वह व्यर्थ नहीं होता। पंछी का उड़ना उसकी मजबूरी होती है। दाने-तिनके की तलाश में भी और बहेलिये के जाल और गुलेल के डर से भी। मुझे तलाश न दाने की थी, न तिनके की। मगर उस व्यवस्था की—जिसमें बहेलिये का जाल और गुलेल मेरे पंख न बिखेर सकें।

कभी पिछले दर्जों में फेल हुआ। मेरे गरीब मां-बाप ने मुझे डांटने की बजाय मेरी किस्मत का दोष और अपने पापों का प्रायश्चित्त समझ कर फिर से अपनी रोटियों पर नमक मलना शुरू कर दिया और मुझे दाखिला दिलवा दिया। जैसे-तैसे हम फेल होने का गम अपनी प्रथम श्रेणी में भुला चुके थे। मगर, मेरे वे बूढ़े मां-बाप फिर भी अपनी रोटियों पर नमक लगाए जा रहे थे।

दो अकों में समाप्य कहानी की पहली कड़ी

चूंकि मैं विज्ञान का छात्र था, शोध भी कर रहा था। इसलिए मेरी पैनी दृष्टि अपने मां-बाप के अन्य बच्चों की छोटी-छोटी रोटियों और नमक पर पड़ने लगी थी। यह भी समझ रहा था कि वे सभी अब इसलिए मस्त थे कि मैं उनकी कोख से जन्मा और घर से निकला गुदड़ी का लाल हूं और दुनियां का बहुत बड़ा वैज्ञानिक और सबसे बड़ा रईस होने जा रहा हूं। खैर, किसी तरह अपनी खुशी की व्यवस्था के लिए मैंने उनसे कह कर एक और व्यवस्था की तलाश की और अपनी शादी कर ली कि एक से भले दो और दो से भले, चार क्या, पांच हो गए तब तक।

आखिर मेरी वैज्ञानिक बुद्धि थी/है। विकासमान मेरा घरौंदा बढ़ता चला गया। तब तक उनकी रोटी छोटी-दर-छोटी और नमक मोटा-दर-मोटा होता चला गया। पहले ही मैं अपने दिमाग की दाद दिया करता था। अब भी क्यों न देता। उनसे बड़ा दिमाग तो था ही, जो उस 'इंटरव्यू' में 'सलेक्ट' न हो पाए थे।

वैसे ग्लानि मुझे एक बार तब हुई, जब मेरा ही छात्र मेरी 'पीएच.डी.' की 'डिग्री' को पीछे धकेलते हुए मेरा प्रवक्ता और फिर विभागाध्यक्ष बन गया था।

हमारी किस्मत में तो काज न रहा। खैर, विश्वविद्यालय का प्रवक्ता और फिर तथाकथित विभागाध्यक्ष, वह भी विश्व और मानव विकास के चरम और परम साधन स्रोत वनों की वानिकी का, जिस पर पत्थर चले, कुल्हाड़ी चली, आग लगी, फिर चिपको चला, फिर ऐपिको। कैमरा, लेखनी, भाषण और फिर राशन, फिर राशन पर भाषण और मध्य अवधि में जिंदाबाद।

और, वही राशन खाते-खाते मैं इतना बड़ा हो गया। मैं वानिकी का प्रवक्ता था, इसलिए भाषण से राशन और राशन से भाषण तक का 'परकरमा' (स्वर्ण मंदिर वाली)। गड्ढा खोदने की जगहें थी। पर, सब्बल था नहीं। कहीं से सब्बल-कुटले लाया तो रखने की जगह नहीं। कहां से होनी थी। कोट पर थेकली लगी थी और फिर मेरा तो लंगोट, उस पर भी थे—थेकली। जेब कहां होता। कभी इस आम के पेड़ के नीचे, कभी उसके नीचे। फिर व्यक्तिगत संपर्क से उधार में जगह और उसके बाद छः बार यहां से वहां और फिर एक अंधेरे गोदाम में धौंस जमाकर ऐसा बैठा कि मजाल थी, जो मुझे कोई कमरा छोड़ने को कह दे। आखिर, चाहे ताकत न है कि कोई कुछ कह दे। गाल अंदर चले गए हों। पसलियां दिखती हों, परंतु मेरी आवाज और जबान में उम्र का तकाजा था, यानी जवानी का जोश था।

बूढ़े बाप ने मुझसे डरते-डरते हुए कहा था—बेटे तुम्हारी आंखें अंदर चली गई हैं, पसलियां दिखती हैं। तुम चिड़चिड़े हो गए हो, अपने स्वास्थ्य का खयाल रखो। तब मुझे एहसास हुआ कि या तो बूढ़े लोग मुझ पर तरस खाकर मुझसे बात नहीं करते थे या मेरी जवानी के भद्देपन से अपनी इज्जत के लिए चुप रहते थे। फिर भी अपनी इस विभागीय गरीबी से मुझे सामाजिक वानिकी के कार्यक्रमों में गांवों में गरीबों से, बूढ़ों से एक किस्म का मोह जैसा होने लगा था। मैं भी असहाय था, वे भी असहाय। प्रेम उसी से तो होता है। वैसे यह प्रेम हमने श्रीनगर से शिमला तक की पदयात्रा में भी भुगता था। वे भी गांधी की तरह लाचार, मैं तो था ही। परंतु, उतना नहीं। फिर भी कभी-कभी बड़ी कोफ्त होती थी। चलो माना। किताबें तो पढ़ीं—वह भी बुकसेलर्स से 3-3 साल के उधार पर। परंतु, न आंध्र प्रदेश के, न मेघालय के, न मणिपुर के और न सहारनपुर के मेरे वैज्ञानिक छात्रों ने हिमालय के वन और न मेरे 'पहाड़ी' भूवैज्ञानिकों ने आरी देखी। खैर, वह तो शुक्र हुआ, मेरे जवानी के जोश ने काम कर दिया और दो साल में एक बार विश्वविद्यालय से लड़-झगड़ कर परीक्षा की रात ही दौड़कर देहरादून से उधार पर कुछ और ले आया।

'पोलीथिन' की थैलियां तो 'रेंजर' साहब श्रीनगर से कभी-कभार दे दिया करते थे। वह भी चोरी छिपे कि 'डी.एफ.ओ.' साहब से मत कहना। हालांकि 'डी.एफ.ओ.' साहब भी अच्छे आदमी थे। बेचारों ने एक बार हमारे बरामदे में 'डालियों का दगड़्या' का उद्घाटन किया था और एक बार 'रेंजर' साहब के इशारे पर दिहाड़ी पर लगाए गए सामाजिक वानिकी के मोरपंखी और 'यूकेलिप्ट्स' का मुआयना किया था। बेचारों को इतना काम रहता था कि क्या बताऊं? 'फाइल' पर 'साइन' जो करें कि, भुगतान की चेक जो काटें, पतरौल का तबादला, पेड़ का रमाना, नर्सरी के बीजों को लेने देहरादून जो जाएं। कहां-कहां जो जाएं। जंगल जाने की फुर्सत थी ही नहीं। एक तो जंगल थे नहीं। थे भी तो बहुत दूर-दूर। यही हाल मेरा भी हो गया था। न खाने की फिक्र न सोने की चिंता (पता नहीं सही क्या है—खाने की चिंता या सोने की फिक्र)। क्योंकि मैं जवान था, 'डाइनेमिक' था और 'हीरो' की तरह 'टर्बाइन' लगा सकता था। 'फिल्म' भी बना सकता था और 'कैंप' भी लगा सकता था। गांव वालों के चाहो, चाहे छात्रों के। फिर गांव-गांव में नारे, भाषण—सब जानता था।

मैं तो इतना व्यस्त हो गया था कि दो महीने तक मैं पुरानी दिल्ली के लोहा बाजार में राठ के विनसर तक 'टी.ए.-डी.ए.' खाता-पीता रहा और मेरे बच्चे मुझे 'अंकल' कहने लगे और मेरे छात्र तो मुझे भूल ही गए। परंतु, ढाक के सचमुच तीन पात होते हैं। ढाक बोओगे तो ढाक ही पैदा होगा। कोई आम थोड़े ही लगेंगे। बबूल वाली

कहावत तो पुरानी हो गई। 'टर्बाइन' लगाई जरूर, पर एक चलने के बाद फिर दुबारा नहीं। 'फिल्म' बनाई जरूर, परंतु वह भी आलमारी के कोने में बंद। 'कैंप' लगे, तंबू गड़े और फिर दालभात में चटनी, अचार, गाना-बजाना, साज-आवाज और विश्ववानिकी दिवस जिंदाबाद।

मैं वैज्ञानिक से 'प्रोफेसर' (प्रवक्ता) से, 'मास्टर' से, ठेकेदार, मुंशी से बेईमान बनकर जेल के अंदर जाते-जाते बचा। वो तो तब तक ग्रह नक्षत्र शुद्ध थे। राहु की दशा खराब थी। सिर्फ परेशानी हुई। शनि भी खराब होता तो अंदर भी मरता और बाहर भी। खैर कभी-कभी सोचता हूं, अच्छा किया बेचारे विश्वविद्यालय वालों ने, जिन्होंने मुझे 'पासपोर्ट' बनाने की इजाजत नहीं दी। 'टाइप' करके तीन महीने में चार 'पंक्तियां लिख दीं कि विश्वविद्यालय छात्रहित में 'सेमिनार-कांफ्रेंस' में आपको परदेश जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। अगर गया होता तो हवाले होता 'इंटरपोल' के। तब कोई 'सी आई ए' का 'एजेंट' कहता कोई 'के जी बी' का।

अपनी व्यवस्था करते-करते देश की व्यवस्था पर न जाऊं। खैर, मैं भगवान, खुदा, यीशु को कैसे भूलता। वे सब याद आते जा रहे हैं, क्योंकि यही वे लोग थे, जो हमेशा कहा करते थे—प्रेम करो, प्रेम से रहो। जन्मभूमि-मातृभूमि स्वर्गादपि गरीयसी। किसकी जन्मभूमि, कैसी मातृभूमि? स्वर्ग-नरक की परिभाषा ही मालूम नहीं। मालूम है भी, तो पता नहीं कौन-सी भाषा में है। खैर, बहस तो बहस है, जारी रहेगी ही। चाहे गीता की कसम खाओ, चाहे गाय की। चाहे 'बाइबिल' की या चाहे कुरान शरीफ की। गुरुग्रंथ साहब की भी खानी पड़ेगी, क्योंकि वह भी अब सुना कि अलग धर्म हो गया है। उसी तरह जैसे आदमी जानवर से और जानवर पेड़-पौधों से और पेड़-पौधे मिट्टी, पत्थर, गारे से या जैसे धरती-आसमान से।

अच्छा, बताएं कि धरती कभी आसमान से अलग हुई? कोई चीज आपस में अलग हुई? मेरी बुद्धि, क्योंकि सबसे बड़ी है, इसलिए कहता हूं कि जब हमने शब्द बनाए, तो वाक्य बने और वाक्य से परिभाषा और परिभाषा से पर-भाषा हो गई है। है न मेरी अकल बड़ी। वैसे मेरा सबसे छोटा लड़का टिंकू मेरी 'अक्कल' से बड़ी उस 'भैंस' को समझता है, जो एक खूंटे से अपने को उखाड़ कर खेतों और जंगलों में घास चरने चली जाती है। बुरा मत मानना। मैं जब-जब गुस्सा होता हूं तो अपनी 'अक्कल' पर ही, कि क्यों यह खूंटा छोड़ कर घास चरने जाती है। जबकि घास खूंटे पर ही मिल जाती है। हो सकता है, खूंटा सड़ गया हो, या रस्सी कमजोर पड़ गई हो, या भैंस तंदुरुस्त हो गई हो। वैसे भैंस तंदुरुस्त हो नहीं सकती, क्योंकि उसे दूध भी देना होता है। गाड़ी भी खींचनी होती है और भूख लगने पर 'अड़ाना' भी पड़ता है। जरूर खूंटा (व्यवस्था) और रस्सी (ताने-बाने-तंत्र) कमजोर हो गए होंगे।

वैसे कुछ अंग्रेज, अमेरिकी, जापानी, चीनी इस बात पर 'रिसर्च' कर रहे हैं कि हमारी भैंस तंदुरुस्त हो रही है, या खूंटा सड़ रहा है, या रस्सी कमजोर हो रही है। वे विज्ञान में हमसे आगे हैं, तभी तो पहले भी उन्होंने ही हम पर 'रिसर्च' करी थी। मैं झूठ बोलता हूं तो 'अंग्रेजी' की किताब पढ़ो, सब मालूम हो जाएगा।

खैर यह सोचता-सोचता मैं श्रीनगर से दिल्ली पहुंच गया था और इंद्रप्रस्थ स्टेडियम के नीचे बगल पर के गत्ते और 'पॉलीथिन' की हवेलियों (झोंपड़पट्टी) को देखते हुए मुझे छोड़ने आए साथियों के साथ बेंगलुरू के 'रिजर्वेशन' की तलाश में जुट गया था। मालूम हुआ 'रिजर्वेशन' एक महीना पंद्रह दिन पहले हो जाता है। कोई हाथों-हाथ कभी 'रिजर्वेशन' मिला करता है? फिर सोचा 'टिकट' ही खरीद लेते हैं। रास्ते में 'टी.टी.' से दे-दिलाकर 'स्लीपर' का इंतजाम कर ही लेंगे।

हम सभी लोग अपनी किस्मत को कोस ही रहे थे कि एक लंबे से अमिताभ बच्चन 'स्टाइल' के सज्जन आए। पूछने लगे अंग्रेजी में, कहां जाना है। 'टिकट' चाहिए। 'कनफर्म' है। अस्सी रुपए ज्यादा देने पड़ेंगे। कुछ देर बाद एक सौ रुपए तक हो जाएगा।

हम क्या करते! कभी एक-दूसरे की आंखों में झांकते, कभी-कभी उसकी तरफ देखते। बात करने वाले तब तक दूसरे आए नसीरुद्दीन शाह 'स्टाइल' में बीड़ी सुलगाते हुए हमसे बोले, 'के.के.' का टिकट बाबूजी पचहत्तर रुपए ज्यादा लगेंगे। 'कन्फर्म' 'टिकट' है, पूछ लो। फिर हम झांकने लगे एक-दूसरे की आंखों में। पैसे

तो खर्च मैंने करने थे, जाना मैंने था। 'ज्वाइन' करने की अंतिम तिथि थी। माना यहां सौ-पचास रुपए ज्यादा भी दे दिए तो क्या फर्क पड़ता है। मोटी तनखा तो मिलनी है। सब वसूल हो जाएगा। जैसे-तैसे पचहत्तर रुपए से वे पचास रुपए तक उतर आए। मतलब एक सौ पचास के हमने दो सौ दिए और ऊपर वाले के साथ उसको भी धन्यवाद दिया कि चलो वक्त सही है। हर काम फटाफट हो रहा है। पैसे की कमी थी नहीं। अब्बाजान ने जी खोलकर बची बचाई 'ग्रेच्यूटी' भी हमें परदेश के लिए दी थी। फिर यार-दोस्तों से भी लिया ही होगा।

पैसे जेब में हैं, तो फिर क्या। पैसे के आगे तो भूत भी नाचते हैं, फिर ये तो बेचारे जरूरतमंद आदमी हैं। वहीं पर चाय मंगाई, टिकट वाले 'नसीरुद्दीनजी' को भी चाय पिलाई। फिर तो उनसे जैसे-तैसे याराना हो गया। वैसे भी हम दोस्ती भिड़ाने में उस्ताद ठहरे। उनसे पूछ बैठे, कितने टिकट बेच लेते हो एक दिन में। बोले पांच-दस तक बिक जाते हैं। हमारा माथा चकराया यानी ढाई सौ से पांच सौ रुपए तक 'पर-डे' की 'इनकम'। तब तो मजा है—दोस्त। कितना पढ़े हो। बोले—'हायर सैकेंडरी' फेल बाबूजी। 'बी.ए.', 'एम.ए.' पास भी ये धंधा करते हैं। पैसा कभी-कभी खूब आ जाता है। हम बोले—तब तो महीने में पांच-सात हजार कमा लेते हो यार (हमें अपने पर बड़ी कोफ्त हुई। मर-खप करके 'पीएच.डी.' भी किया, नौकरी के लाले भी पड़े। फिर नौकरी में भी 'नजरबंदी' और फिर ढाक के तीन पात)। ❖

(क्रमशः शेष अगले अंक में)

शिक्षा : लक्ष्य हो जीवन को अच्छा बनाना

पृष्ठ 37 का शेष

जीवनविज्ञान केवल छात्रों के लिए ही उपयोगी नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी उपयोगिता परिलक्षित होती है। वही ज्ञान सार्थक है, जिसे आचरण में लाया जा सके। इसके लिए सृजनात्मक शक्ति का विकास जरूरी है।

गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी जोर देकर कहते थे कि विद्यार्थी में अगर आवेश और आवेग आएगा तो उसका अध्ययन प्रभावित होगा। यही नहीं, आने वाले समय में समाज और देश की बहुत बड़ी जिम्मेदारी उन पर ही है। अतः उनमें सहनशीलता का विकास होगा तो उनकी कर्मजाशक्ति स्वतः बढ़ जाएगी। जीवनविज्ञान को वर्तमान शिक्षा-दर्शन का पूरक प्रयोग माना जा सकता है। व्यक्तित्व निर्माण के लिए जीवनविज्ञान एक तरह से आधार-स्तंभ है। चरित्र का निर्माण मात्र किताबों से या शिक्षा केंद्रों से नहीं होगा, इसके लिए अभ्यास और प्रयोग जरूरी है। जीवनविज्ञान की पूरी पद्धति ही अभ्यास की पद्धति है।

आचार्यश्री महाश्रमणजी कहते हैं—'जीविका प्राप्ति का एक माध्यम शिक्षा हो सकता है, पर जीवन को अच्छा बनाना भी एक लक्ष्य होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा यह लक्ष्य भी पूरा होना चाहिए।'

आदमी यह सोचे कि नैतिकता के प्रति मेरी निष्ठा बनी रहे, मैं नैतिकता के प्रति पूरा सजग रहूं। नैतिकता और ईमानदारी का विकास विद्यार्थी जीवन से ही होना चाहिए। यह तभी संभव है, जब शिक्षा के प्रति दृढ़ जागरूकता बने और बाहर की सुंदरता की बनिस्बत गुणात्मक दृष्टि से भी सौंदर्य एक लक्ष्य बने। ❖

सच बात यह है कि हमारी मुख्य धारणाएं ही गड़बड़ा गई हैं और जब तक आज का तत्त्वमीमांसा विरोधी वातावरण बना रहेगा, अव्यवस्था और बढ़ती जाएगी। ऐसी हालत में शिक्षा मनुष्य का सबसे बड़ा संसाधन बनने के बजाय विनाश का माध्यम ही बनेगी।

—नंदकिशोर आचार्य

सरोजकुमार की कविताएं

•

जड़ें

फुनगियां हिलती हैं,
टहनियां झूलती हैं,
पत्तियां, फूल-फल भी,
पर मेरी जड़ें नहीं हिलतीं!
जड़ें नहीं हिलतीं, इसलिए
टहनियां, पत्तियां, फूल और फल,
झूलते हैं, झूमते हैं!

जड़ तो दिखती नहीं मेरी,
जमीन के भीतरी सफों पर
बनाती है मेरा नक्शा!
रचती है संसार,
जमीन के नीचे,
कीचड़ से सनी हुई,
करतब दिखाती है आसमान में!
मैं जितना दिख रहा हूं,
बस उतना ही नहीं हूं!
गहरे तक उतरे हैं
मेरे पांव!
मैं नींव पर खड़ा हूं!

खड़ा हूं मैं अपनी नींव पर
आंधियां,
कितना नहीं झुकातीं मुझे,
मैं फिर-फिर,
अपनी ऊंचाइयों में,
तन जाता हूं!
तुम मुझे पानी दे सकते हो,
जड़ नहीं!
तुम मुझे हवा दे सकते हो,
जड़ नहीं!
जड़ तो मेरी ही हो सकती है,
वो जो न हो,
तो तुम्हारा दिया पानी
मुझे बहा देगा।
तुम्हारी दी हवा
मुझे उड़ा देगी!

•

आजादी

आजादी से सुखद
कोई मजा नहीं है,
आजादी से दुखद
कोई सजा नहीं है!

जहां मैं ही निमित्त, मैं ही कर्म
मैं ही फल हूं!
जहां मैं ही हंटर, मैं ही पीठ
मैं ही मरहम हूं!

जहां कोई राजा—
राजा!
जहां कोई प्रजा—
प्रजा नहीं है!

जहां मैं ही स्वामी, मैं ही चाकर
मैं ही दाता, मैं ही फरियाद हूं!
जहां मैं ही कवि, मैं ही श्रोता
मैं ही हूटिंग, मैं ही दाद हूं!

मैं ही रंग, मैं ही रूप
मैं ही जिसका झंझावात
ऐसी तो दुनिया में
कोई अन्य ध्वजा नहीं है!

•

बात

कविता जब लिखी थी
आईना थी
मेरे मन की बात का
मनभावन, रिझावन!

अब वह बात नहीं रही
बात, कोई बुत तो है नहीं
कि बनी ही रहे!
रही, रही! न रही, न रही!

बात चाहे नहीं रही
पर कविता तो है, यथावत
जो आईना थी!
उसमें वह बात भी है
जो अब नहीं रही! ❖

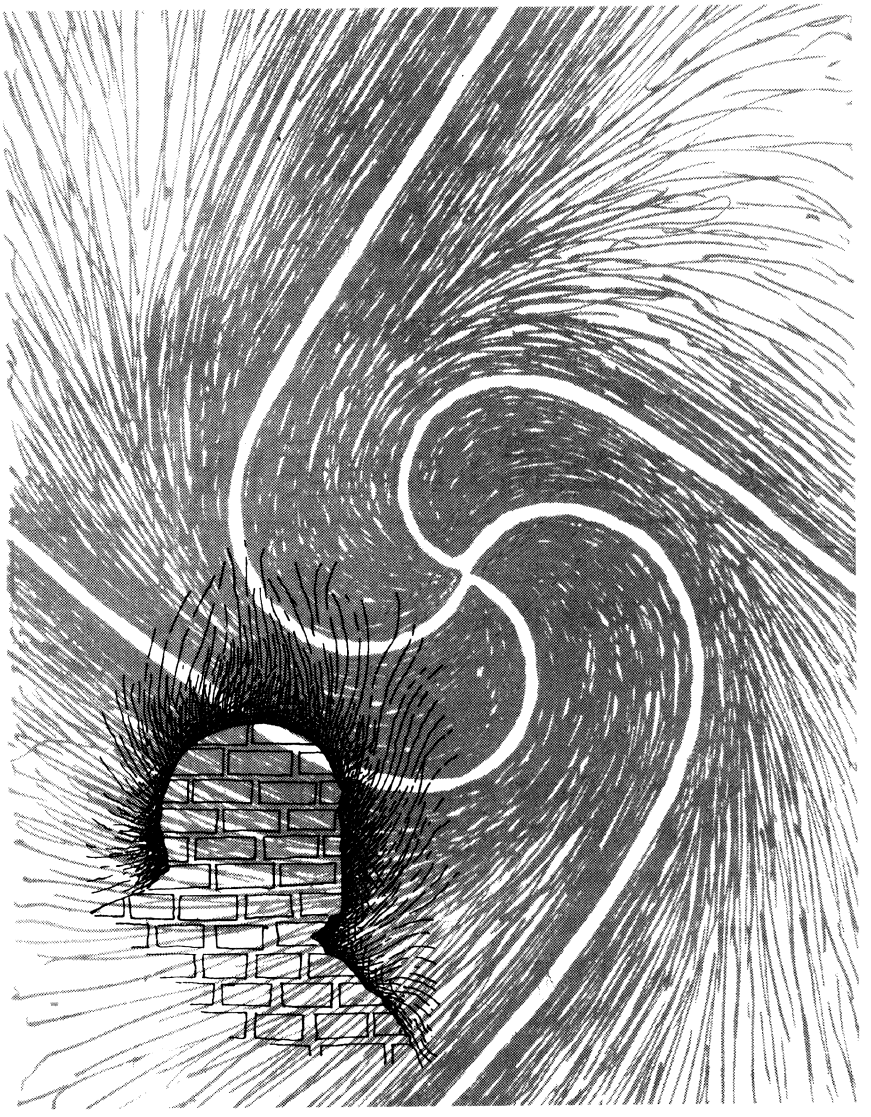

शीलन

दुनिया में जो शक्तियां काम करती हैं, उनमें दो शक्तियां लोकमान्य हैं। एक है—शस्त्रशक्ति और दूसरी है—शब्दशक्ति। किसी दृष्टा पुरुष की वाणी से देश, समाज और दुनिया को शब्द मिलता है और वह सबकी श्रद्धा अपनी तरफ खींच लेता है। यानी सब श्रद्धाएं उस शब्द में एकत्र हो जाती हैं और शब्द शक्तिशाली बन जाता है।

शब्द सूझता है किसी ऋषि को, किसी चिंतनशील अनुभवी पुरुष को या किसी प्रयोगशील योगी को।

—आचार्य विनोबा भावे

11 सितंबर 1895, जन्म जयंती : पावन स्मरण

"शिक्षित व्यक्ति का जीवन अपेक्षया व्यवस्थित रहता है। क्योंकि उसके जीवन का निर्माण शिक्षा की मजबूत नींव पर हुआ है। शिक्षा रूपी यह नींव यदि स्वाध्याय की खाद से पोषित हो जाए तो वह और ज्यादा मजबूत हो सकती है। जो व्यक्ति जीवनभर शिक्षा का साथ नहीं छोड़ता है, वह अपने जीवन में अतुल्य ज्ञान के सागर का निर्माण कर लेता है और ज्ञान वह धन है, जो निरंतर बढ़ता रहता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह कभी हमारा साथ नहीं छोड़ता। अच्छे समय को यह सहेजकर रखने की सीख देता है, तो बुरे समय का हंस कर सामना करने की प्रेरणा भी देता है।"

शिक्षा और स्वाध्याय : मिलता है आनंद; अनुभव की मंजिलें

□ कु. बरखा थानवी □

मानव जीवन में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। शिक्षा ही वह साधन है, जो मनुष्य को प्राणी जगत के अन्य जीवों से पृथक करती है। मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बना कर आने वाली पीढ़ी के लिए एक सांस्कृतिक धरोहर के रूप में हस्तांतरित करने की योग्यता शिक्षा से ही प्राप्त होती है। शिक्षा के द्वारा ही हमारा सर्वांगीण विकास हो सकता है। वातावरण के साथ अनुकूलन की क्षमता का विकास शिक्षा के द्वारा ही संभव है। समाज की उन्नति के लिए शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण साधन है। मनुष्य से संबंधित हर विषय के विकास का दारोमदार शिक्षा पर ही है।

शिक्षा को जानना-समझना कोई आसान काम नहीं है। यह एक जटिल विषय है। इस विषय पर कई विचार और वाद आए हैं। उदाहरण के तौर पर हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अनुसार—'शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति का संपूर्ण व संतुलित विकास है।' भारतीय दर्शन के अनुसार—**'सा विद्या या विमुक्तये'**—जो मुक्ति या मोक्ष प्रदान करे, वही शिक्षा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक और समन्वित व प्रगतिशील विकास ही शिक्षा है।

दुविधा भी यहीं उत्पन्न होती प्रतीत होती है कि क्या यह हमारी जन्मजात शक्ति है? या फिर हम इसे ग्रहण भर ही करते हैं? शिक्षा शब्द की उत्पत्ति 'शिक्ष' धातु से हुई है, जिसका उपयोग सीखने, विद्या प्राप्त करने और ज्ञान ग्रहण करने में किया जाता है। शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को भी समझना चाहिए। क्या हम इसे नियमों, कायदों और परंपराओं में बांध कर ग्रहण करते हैं या स्वतंत्र रूप से अपने अनुभवों के द्वारा? दोनों ही स्वरूपों को गलत नहीं ठहराया जा सकता। असल जिंदगी में तो हम शिक्षा को उसके संकुचित रूप में भी ग्रहण करते हैं और उसके व्यापक रूप में भी। यदि मैं अपना उदाहरण दूं, तो कह सकती हूं कि मैंने अपने जन्म के साथ ही व्यापक शिक्षा ग्रहण करनी शुरू कर दी थी और संकुचित रूप

सर्वेपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् जन्म जयंती
हर्ष-हर्ष
5 सितंबर
शिक्षक दिवस : अवसर विशेष

में स्कूल से तीन वर्ष की आयु में। तीसरे वर्ष के पश्चात् ये दोनों स्वरूप आपस में मिल गए और स्कूल-कॉलिज करने के बाद जब शिक्षक बनने की शिक्षा ग्रहण करनी शुरू की तो यह जानने को मिला कि शिक्षा क्या है? शिक्षा की प्रकृति कैसी है? और, देश-दुनिया के विद्वानों के अनुसार कैसी शिक्षा एक विद्यार्थी को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती है?

असल जिंदगी में वही शिक्षा शिक्षा है, जो व्यक्ति को सफलता के सोपान उपलब्ध कराती है। हम जो अपने अनुभवों के द्वारा सीखते हैं अथवा स्वयं के अध्ययन से सीखते हैं—वह न केवल हमारे द्वारा सीखा हुआ प्रतीत होता है, अपितु उम्रभर हमारे साथ भी रहता है। इस दृष्टि से जिंदगी में शिक्षा के बड़े मायने हैं।

ऐसा व्यक्ति जो आजीवन शिक्षा ग्रहण करता है, सीखता है और अनुभव करता है—वही सफल है और ऐसी शिक्षा ही व्यावहारिक एवं उपयोगी होती है। कई बार हम ऐसा सुनते और देखते हैं कि किसी व्यक्ति ने विज्ञान विषय में स्नातक किया और व्यावहारिक जीवन में वह सफल उद्योगपति है। ऐसा क्यों? मुझे लगता है कि ऐसा शायद इसलिए है कि वह उस विषय-भर में बंधा नहीं रहा। विषय ने उसके मानसिक विकास में तो पूरा सहयोग किया, पर वह आगे बढ़ा परिस्थितियों के अनुसार। हम कहते और मानते हैं कि हवा और पानी के बिना सांसें नहीं चल सकतीं। ठीक इसी तरह शिक्षा के बिना जीवन को चलाना आसान नहीं।

शिक्षित व्यक्ति का जीवन अपेक्षया व्यवस्थित रहता है। क्योंकि उसके जीवन का निर्माण शिक्षा की मजबूत नींव पर हुआ है। शिक्षा रूपी यह नींव यदि स्वाध्याय की खाद से पोषित हो जाए तो वह और ज्यादा मजबूत हो सकती है। जो व्यक्ति जीवनभर शिक्षा का साथ नहीं छोड़ता है, वह अपने जीवन में अतुल्य ज्ञान के सागर का निर्माण कर लेता है और ज्ञान वह धन है, जो निरंतर बढ़ता रहता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह कभी हमारा साथ नहीं छोड़ता। अच्छे समय को यह सहेजकर रखने की सीख देता है, तो बुरे समय का हंस कर सामना करने की प्रेरणा भी देता है।

वह जीवन धन्य हो जाता है जो स्वाध्याय से जुड़ जाता है। स्वाध्याय से आत्मतृप्ति, आत्मबल, आत्मविश्वास व आत्मज्ञान में वृद्धि होती है, जो जीवन का आधार होते हैं। मनुष्य का जीवन निरंतर नए सपनों से अनुगुंफित रहे, इसके लिए स्वाध्याय जरूरी है। स्वाध्याय आदत में कैसे बदले, यह देखना जरूरी है। कविवर दुष्यंतकुमार के शब्दों में **एक आदत सी बन गई है तू और आदत कभी जाती नहीं**—स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान जीवन के हर पहर में हमारे साथ रहता है। यह ऐसी पूंजी है, जो हम से कोई छीन नहीं सकता है। अलबत्ता यह बांटने से बढ़ती अवश्य है। शिक्षा और स्वाध्याय जीवन के हर अध्याय में आवश्यक हैं।

शिक्षा किताबी भी होती है और व्यावहारिक भी होती है। व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ किताबी ज्ञान भी अब जरूरी है। शिक्षा अब व्यक्तित्व का पर्याय होती जा रही है। उच्च शिक्षा से ही उच्च व्यक्तित्व निर्मित हो, ऐसा जरूरी नहीं, परंतु बेहतर शिक्षा व बेहतर व्यक्तित्व होना आवश्यक है।

स्वाध्याय हमारी शिक्षा की जरूरत को पूरा कर सकता है। हम धन की मोह-माया से भले दूर रहें, परंतु स्वाध्याय के मोह को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। स्वाध्याय मन को शांत रखता है और एकांत का साथी है। स्कूल-कॉलिज में प्राप्त शिक्षा से हम अपने जीवन में क्या करेंगे, इसकी नींव रखी जा सकती है, पर स्वाध्याय से प्राप्त शिक्षा हमारे आत्म-निर्माण का कार्य करती है। हमारे जीवन की राह को प्रशस्त करती है।

पढ़ना और पढ़ाना निरंतर चलने वाली क्रिया है। 'डिग्री' प्राप्त करके यह समझ लेना कि हमने पूर्ण शिक्षा हासिल कर ली है, ऐसा सोचने वाले अपने पढ़ने का क्रम वहीं रोक देते हैं। असल बात यह है कि 'पढ़े-लिखे' होने की बनिस्बत 'पढ़ते-लिखते' रहना हमारे जीवन का अंग बने। जब-जब हम कुछ नया पढ़ते हैं तब-तब हमारे ज्ञानभंडार में वृद्धि होती है और किसी के साथ बांटने से इस ज्ञानभंडार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। कहा भी जाता है कि ज्ञान बांटने से बढ़ता है।

ऐसा व्यक्ति जो शिक्षित है, जो रोज अपने

अनुभवों से सीख रहा है और यदि वह उसका उपयोग अपनी गुणवत्ता बढ़ाने में करे तो सही अर्थों में वह अपने जीवन को सार्थक बना रहा होता है। गुणवत्ता बढ़ाने से तात्पर्य है—ऐसे गुणों को विकसित करना जो शिक्षित व अशिक्षित में भेद कर सके। शिक्षित व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह विनम्र रहे, भद्र व्यवहार करे व अपने से छोटे-बड़ों—सभी का बराबर सम्मान करे। शिक्षित व्यक्ति के लिए ऐसा तभी संभव है, जब वह अहंकार से मुक्त हो जाए। इसमें स्वाध्याय की भूमिका 'सोने में सुहागा' जैसा काम करती है। 'स्वाध्याय' यानी की स्वयं के द्वारा किया गया अध्ययन।

अध्ययन एक जटिल प्रक्रिया है और इसके लिए सही मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। मार्गदर्शन न मिलने पर कोई स्वयं को ठगा-सा महसूस कर सकता है। लगता है कि कोई उसकी मदद क्यूं नहीं कर रहा है। पर, वह भूल जाता है कि अपना मार्ग स्वयं द्वारा खोज निकालने में जो आनंद है—वह और कहां है? इसका जवाब अपने ही 'स्वाध्याय' से पाया जा सकता है। मुझे लगता है कि अपने स्वाध्याय से पैदा होने वाला विश्वास हमारे हौसले को एक नई उड़ान दे सकता है।

स्वाध्याय के अपने ही फायदे हैं। स्वाध्याय के जरीए एक विद्यार्थी अपनी समस्याओं का हल स्वयं ही खोज लेता है। साथ ही वह अपने ज्ञान को सुनियोजित ढंग से क्रमबद्ध करने व समय पर उपयोग में लाना भी सीख सकता है। इससे न केवल उसके कौशल में वृद्धि होगी, स्वाध्याय के साथ अटूट संबंध भी वह बना लेता है। स्वयं का सीखा हुआ सदैव हमारे साथ रहता है। यह बात विद्यार्थी व उनके माता-पिता, अभिभावक के समझ आनी चाहिए।

भारत में सदियों से स्वाध्याय की परंपरा रही है। भारतीयों ने अपने अध्ययन-अनुसंधान से महान ग्रंथों की रचना की है। कई खोजें व आविष्कार किए हैं। इन सभी महान विद्वानों के पास कोई विशेष साधन नहीं थे। यदि कुछ था—तो निश्चित अवधि वाला 'अनुशासित मार्गदर्शन' और कुछ कर गुजरने का जुनून। आज भी ऐसे ही हौसले और जुनून की आवश्यकता है।

स्वाध्याय विद्यार्थी को मेहनती, जुझारू व सवालों के जवाब खोजने के लिए तत्पर रहने वाला ऐसा इनसान बना देता है, जो भविष्य की किसी भी मुश्किल का सामना कर सकता है। दूसरी ओर स्वाध्याय न करने वाला उस तोते की तरह हो जाता है—जो बोलता तो है, पर समझता कुछ नहीं। आज के युग में माता-पिता व शिक्षकगण अपने विद्यार्थी को एक ऐसा कंप्यूटर बनाना चाहते हैं जिसकी समझ व तार्किक शक्ति तो शून्य हो, परंतु जवाब खटाखट बाहर आएं और साथ में 'ग्रेड्स' भी लाएं। इसी तरह हम प्रायः देखते हैं कि विद्यार्थी की रटने की आदत पर अधिक जोर दिया जाता है। यह उसकी नींव को ही कमजोर करता है।

मानव मस्तिष्क की विशेषता इसी में है कि उसका सोचना, समझना, विचार करना और किसी विषय का स्वयं अध्ययन करना निरंतर जारी रहे। अतः मानव मस्तिष्क के विकास में स्वाध्याय सर्वोत्तम हितकारी है।

निरंतर अध्ययनशील रहना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय से स्व का निर्माण होता है और यही सफलता की पहली इकाई है। स्वाध्याय इस बात की पूरी निगरानी रखता है कि शिक्षा का मार्ग कभी बाधित न हो और हम निरंतर अध्ययनशील रहें। स्वाध्याय से जो मंजिल मिलती है, वह आनंद और अनुभव, दोनों देती है। ❖

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके, न जह्याद्धनकांक्षया।।

जो धन-संपत्तियां धर्म से प्राप्त हो सकती हैं वे ही सच्ची हैं, जो अधर्म से प्राप्त हों उन धन-संपत्तियों को धिक्कार है। धर्म संसार में नित्य रहने वाला है, धन की लालसा से उसे न त्यागें। —**महाभारत** (शांतिपर्व 292-19)

जीवन जीने के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। जब इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है, तब व्यक्ति हिंसात्मक प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है। उद्दंडता, उच्छृंखलता, हिंसात्मक तोड़-फोड़ की प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं। गरीबी की बात को छोड़ दें, पर कम से कम भूख की समस्या व्यक्ति को न सताए—ऐसे उपाय सर्वोच्चता के साथ होने चाहिए। यह उग्रवाद और नक्सलवाद किसके आधार पर बने हैं? जिनको खाने को नहीं मिला—वे भूख से व्यथित होकर हथियार उठाते हैं। ऐसी स्थिति में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी पर अंकुश जरूरी है। अहिंसा समवाय मंच के द्वारा कुछ ऐसी गतिविधियां प्रारंभ की गई हैं, जिससे प्रतिक्रियात्मक हिंसा को रोका जा सकता है।

❑❑

अहिंसा : जीवन का विश्वस्त सुरक्षा कवच

❑ साध्वी कनकरेखा ❑

मानव जाति के ऊर्ध्वमुखी चिंतन का सर्वोत्तम विकास बिंदु अहिंसा है। यह जीवन का शाश्वत मूल्य है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, राष्ट्र व विश्वबंधुत्व का जो विकास हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की भावना काम कर रही है। अहिंसा की परिधि के अंतर्गत समस्त धर्म-दर्शन समाविष्ट हो जाते हैं। सभी धर्म-संप्रदायों में अहिंसा तत्त्व को स्वीकारा गया है। अहिंसा संपूर्ण विश्व का सार्वभौम सिद्धांत है। जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई व वैदिक—सभी ने किसी न किसी रूप में अहिंसात्मक विचारों का प्रतिपादन किया है।

वैदिक साहित्य में वेद सर्वोपरि है और ऋग्वेद, यजुर्वेद में क्षमा, मैत्री व सद्भावना का विशेष उल्लेख मिलता है। बौद्ध धर्म के 'धम्मपद' में बुद्ध ने शिष्यों से कहा है—सबको समान समझो, न कोई छोटा है, न बड़ा। उन्होंने अहिंसा को सर्वोच्च धर्म के रूप में स्वीकारा है। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ है—शांति। इस शांति को पाने के लिए उन्होंने दया, करुणा, उदारता व विश्व-बंधुत्व की राह दिखाई। उनके अनुसार हम सब खुदा के पुत्र हैं। एक-दूसरे के साथ भाईचारे का व्यवहार करें। ईसाई धर्म का उपदेशामृत सबको नया संदेश देता है—'तुम अपने दुश्मन से भी प्यार करो', 'यदि तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे, तो दूसरा उसके सामने कर दो।'

जैन दर्शन बड़ी ही मार्मिक बात कहता है—'तुम किसी को दुश्मन समझो ही मत'—**मित्ति मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ।**—जैन दर्शन के प्रत्येक क्रिया-कलाप में अहिंसा का दर्शन होता है। जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। जिसमें अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसको समझ कर आचरण करने वाला ही आत्मतत्त्व की चौदह सीढ़ियों का आरोहण कर मोक्षमहल में पहुंच सकता है। जैन दर्शन समस्त प्राणी जगत के साथ मैत्री का व्यवहार करने की बात कहता है।

इस तरह कह सकते हैं कि अहिंसा महानता का आदर्श है। महापुरुषों के जीवन का आभूषण है। अहिंसा प्रेम का वह सागर है, जिसमें डुबकी लगाने वाले प्रसन्नता

का अनुभव करते हैं। अहिंसा चरित्र की वह श्वेत चदरिया है, जिसे धारण करने वाले पवित्र आभामंडल के साथ प्रभु के दरबार की शोभा बढ़ाते हैं। अहिंसा विश्वशांति का वह राजमार्ग है, जिस पर चरणन्यास करने वाले भगवान महावीर और गांधी की याद को स्मृति-पटल पर तरोताजा करते हैं।

जीवन का सुरक्षा कवच

वर्तमान युग की सबसे जटिल समस्या हिंसा है, जो प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अभाव, अहंकार, अपराध, नशा आदि अनेक समस्याओं का कारण है—हिंसा। जहां इसका निवास रहता है, वहां एक प्रकार का उन्माद पैदा होता है और वही उन्माद अपराध जगत में प्रवेश कर लेता है। तब स्वयं की विवेक चेतना पर आवरण आ जाता है और करणीय-अकरणीय का भान भूल जाते हैं।

आज जातिवाद और सांप्रदायिक उन्माद के कारण हिंसा का तांडव बढ़ रहा है। 11 सितंबर, 2001 को न्यूयार्क में जो घटना घटी थी, उसकी त्रासदी ने अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश को हिला दिया था। उसी दरम्यान भारत के संसद भवन के बाहर आतंकवादियों ने हमला किया और घोर बर्बरता का परिचय दिया। इससे भारत और पाकिस्तान के बीच भारी तनाव पैदा हो गया। ऐसा लग रहा है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के अस्तित्व को खत्म करने पर तुला है। धन और सत्ता के पीछे व्यक्ति के भीतर प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित हो रही है। हर व्यक्ति भयभीत है और अपने आपको असुरक्षित मान रहा है। अपरिमित आणविक अस्त्रों से भय का वातावरण बढ़ रहा है। आतंकवाद और उग्रवाद के साये में विश्व-मानस अशांति से आक्रांत है, पर राष्ट्रीय अस्मिता की सुरक्षा के लिए प्राणों को हथेली पर रख कर आगे आने वाला कोई नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में जीवन का सुरक्षा कवच अहिंसा ही है। व्यक्ति को घृणा, ईर्ष्या, वैमनस्य, प्रतिशोध, अनैतिकता आदि कांटों भरी राहों से बचने के लिए अहिंसा हमें सावधान कर रही है और साहस के साथ हर व्यक्ति के हृदय में प्रेम, करुणा व नैतिकता के फूल खिला सकती है। भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त अहिंसा, अपरिग्रह व अनेकांत के सिद्धांतों की प्रासंगिकता बढ़ती जा रही है। हिंसा का समाधान कभी हिंसा से नहीं होता। हिंसा की जड़ को समाप्त करने का उपाय है—अहिंसा।

अहिंसा सव्वभूयं क्षेमंकरी

भगवान महावीर ने कहा है—अहिंसा समस्त जीवों के लिए कल्याणकारी है, जो सबको अभय का वरदान देती है। अहिंसा शांति का अमोघ शस्त्र है और इसके द्वारा विश्वशांति संभव है, पर अहिंसा को समझने से पूर्व हिंसा के कारणों को समझना आवश्यक है। आज शस्त्रों के द्वारा हिंसा का जितना प्रशिक्षण दिया जा रहा है, उस प्रशिक्षण में अरबों-खरबों डॉलर खर्च हो रहे हैं। यदि इसी धन को अहिंसा प्रशिक्षण में खर्च किया जाए तो हिंसा और आतंकवाद की समस्या स्वतः समाप्त हो सकती है। विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. टायनबी ने कहा है—'यदि विश्व को सर्वनाश से बचाना है, तो अहिंसा की शरण लेनी ही होगी, वरना भविष्य के लिए खतरा है।'

हिंसा का एक कारण गरीबी

जीवन जीने के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। जब इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है, तब व्यक्ति हिंसात्मक प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है। उद्दंडता, उच्छृंखलता, हिंसात्मक तोड़-फोड़ की प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं। गरीबी की बात को छोड़ दें, पर कम से कम भूख की समस्या व्यक्ति को न सताए—ऐसे उपाय सर्वोच्चता के साथ होने चाहिए। यह उग्रवाद और नक्सलवाद किसके आधार पर बने हैं? जिनको खाने को नहीं मिला—वे भूख से व्यथित होकर हथियार उठाते हैं। ऐसी स्थिति में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी पर अंकुश जरूरी है। अहिंसा समवाय मंच के द्वारा कुछ ऐसी गतिविधियां प्रारंभ की गई हैं, जिससे प्रतिक्रियात्मक हिंसा को रोका जा सकता है।

इतिहास का दुर्लभ दस्तावेज

अहिंसा समवाय मंच चिंतन का मंच है, जहां हर

समस्या का समाधान खोजा जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने बड़ी ही सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता के साथ इस मंच की स्थापना की। चिंतन की धरा पर मानवीय चेतना का जागरण करने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन के नौवें दशक में अहिंसा यात्रा शुरू कर चौराहे पर खड़े व्यक्ति को दिशा-दर्शन दिया। इस यात्रा के दौरान समूचे देश को मानवता का संदेश मिला। सांप्रदायिकता की आग में झुलसते समाज को करुणा और मैत्री की ठंडी बयार मिली। सामाजिक, पारिवारिक व राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली हिंसा को समाप्त करने के लिए ही अहिंसा यात्रा का शुभारंभ हुआ। इसका उद्देश्य अहिंसात्मक चेतना का जागरण व नैतिक मूल्यों का विकास करना रहा। इससे लोगों में शांति, प्रेम, सौहार्द और सद्भावना का माहौल बना।

इसी के साथ अहिंसा प्रशिक्षण का उपक्रम भी चला। अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम हैं—(1) अहिंसा प्रशिक्षण, इतिहास और सिद्धांत, (2) हृदय परिवर्तन, (3) अहिंसक जीवनशैली और, (4) सम्यक् आजीविका प्रशिक्षण। इन चारों आयामों के द्वारा दृष्टिकोण में परिवर्तन की संभावना बलवती हो सकती है।

अहिंसा प्रशिक्षण के साथ रोजगार प्रशिक्षण को भी जोड़ा गया। हिंसा मत करो, इतना कहने मात्र से काम नहीं चलता। यदि हमारे सामने विकल्प है, तो उसकी प्रस्तुति भी आवश्यक है। अतः रोजगार प्रशिक्षण का कार्य जोड़ा गया, जो आज काफी लोकप्रिय बन गया है। हैदराबाद की पिछड़ी बस्तियों में, जहां आपराधिक लोग रहते हैं—वहां सिलाई मशीन का प्रशिक्षण, कंप्यूटर, मोमबत्ती निर्माण आदि का कार्य तेजी से चल रहा है। जीविका निर्वाह के साथ जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण भी जीवनविज्ञान पाठ्यक्रम के माध्यम से चलता है। आसन, प्राणायाम, योग व ध्यान की कक्षाएं नियमित रूप से चलती हैं। शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक रूप से स्वस्थता के लिए जीवनविज्ञान पाठ्यक्रम काफी सहायक सिद्ध हुआ है। वहां धीरे-धीरे लोग हिंसा से विरत होने लगे हैं। यह मानवीय एकता का अनुपम प्रयास है। सहयोग और सौहार्द की भावना समाज को हिंसा से मुक्त बनाने में अपनी बड़ी भूमिका अदा कर सकती है।

अहिंसा अमृत है

'अहिंसा वह अमृत है, जो समाज व राष्ट्र को जीवित रखता है'—अहिंसा-पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह पाथेय सबके भीतर एक नई ऊर्जा पैदा कर सकता है। अहिंसा एक अजस्र अमृतधारा है—जिससे क्रोध, अहंकार, लोभ व निषेधात्मक भावों के विष को समाप्त किया जा सकता है। जहां मैत्री की उपेक्षा होती है—वहां पारिवारिक कलह, मानवीय संबंधों में कटुता और जातीय संघर्ष से सारा वातावरण उद्वेलित हो जाता है।

हिंसा स्वयं में प्रवृत्ति नहीं, परिणाम है। कर्मवाद की भाषा में हिंसा का कारण है—पूर्वकृत कर्म का विपाक और विज्ञान की दृष्टि से—रासायनिक असंतुलन। संतुलित जीवनशैली के लिए आदमी की चेतना का रूपांतरण जरूरी है। शरीर-शास्त्रियों का कहना है कि हमारे मस्तिष्क में अरबों-खरबों 'न्यूरांस' और उनके 'कनेक्शन' हैं। उसमें हिंसा को बढ़ावा देने वाला तंत्र भी है और अहिंसा की प्रेरणा देने वाला तंत्र भी है। जब हमारी भावधारा बदलती है, तो विचार और व्यवहार में भी परिवर्तन आता है। उस समय हमारी अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्राव पैदा होता है, जो 'हार्मोंस' का निर्माण करता है। ये ही रसायन मस्तिष्क में जाते हैं और उसी के आधार पर चरित्र बनता है। चरित्र बदलने से स्वभाव बदलता और उससे ही हृदय परिवर्तन होता है। श्वास प्रेक्षा के माध्यम से प्राणतत्त्व को सक्रिय कर व्यक्ति प्राणधारा के द्वारा चित्तवृत्तियों में परिवर्तन ला सकता है।

करुणा, दया, सेवा, सहिष्णुता, सरलता आदि सद्गुणों से मानव-मस्तिष्क को जागृत कर मानव संस्कृति को सुरम्य बनाया जा सकता है और सत्य, शील, संयम और समता की जननी अहिंसा के गौरव को बढ़ाया जा सकता है और इस प्रकार हम भी अहिंसा का आदर्श जीवन जी सकते हैं। ❖

शिक्षा का सवाल : चाहिए कठोर निर्णय

पृष्ठ 18 का शेष

आज शिक्षा में मूल्यों तथा शैक्षिक स्तर को लेकर अनेक प्रश्न उठाए जाते हैं। क्या हम ठीक से जानते हैं कि मूल्यों का यह प्रश्न कौन उठा रहे हैं? इन मूल्यों में अवमूल्यन किन्हें दिखाई पड़ रहा है? क्या मध्य वर्ग अपने मूल्य पूरे समाज पर नहीं थोप रहा? क्या मध्यवर्गीय राजनीति मूल्यों के प्रश्न को उठाकर अपने को चिरंतन शक्तिशाली दशा में रखने का प्रयत्न नहीं है? क्या मूल्यों की इस समस्या ने धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा नहीं दिया है? यह बात सही नहीं है कि भारत कभी भी एक से मूल्यों को पूरे समाज पर लागू कर पाया था। वर्ग तथा जातियां ही एक नहीं, तो समान मूल्य कहां होंगे और क्योंकर हो सकते हैं? यह प्रश्न गंभीर है और लोगों को भरमाने के लिए इतनी सहजता से इसे प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार शैक्षिक स्तर का प्रश्न है। कौन-सा स्तर है—जिसकी हम चर्चा करते हैं? क्या कोई स्तर था, जिससे हम तुलना कर सकते हैं? हां, स्तर था—अंग्रेजी समय में कुछ लोगों का, जहां केवल वर्ग तथा वर्ण विशेष के ही लोग शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। इस दृष्टि से आज के सुविधाभोगी लोगों की संख्या काफी बड़ी है और उनकी शिक्षा के साधन अधिक स्तरीय हैं। निश्चित है कि हम इस वर्ग विशेष की चर्चा नहीं करते। इस स्तर के प्रश्न को हम साधनहीन लोगों की शिक्षा को झुठलाने के लिए एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं, ताकि जो नीचे हैं, वे और नीचे चले जाएं, अथवा वहीं पर रहें—जहां से वे उठने का प्रयत्न कर रहे हैं।

शिक्षाविदों में आज अधिकांश लोग साधन-संपन्न वर्ग के ही हैं और वे वर्गहित के बाहर देखने के लिए प्रयत्नशील भी नहीं हैं। इसीलिए वे शिक्षा व्यवस्था को राष्ट्रीय होने की चर्चा तो करते हैं, पर उसे होने नहीं देना चाहते। क्योंकि यदि ऐसा हो गया तो उनके अपने परिवारों का क्या होगा? इसलिए नए से नए प्रकार की नारेबाजी करना उनका असली काम है। आज का बहुत बड़ा बुद्धिजीवी वर्ग इन्हीं शिक्षाविदों से प्रभावित है।

शिक्षा की अनेक समस्याएं वर्ग विशेष को सुविधा प्राप्त कराने के कारण जन्मी हैं। इसीलिए समाज तथा उसके लिए जन्माए राजनीतिक दलों की चर्चा किए बिना शिक्षा को समझना अथवा उसकी समस्याओं को सुलझाना संभव नहीं है।

यह भी विडंबना है कि कई समस्याएं ऐसी हैं, जिनका शिक्षा से कुछ लेना-देना नहीं है, पर भोगनी उसको ही पड़ती है। यदि पढ़े-लिखों को नौकरी नहीं मिलती तो उसका हल शिक्षा के व्यावसायीकरण में नहीं है, वह तो देश के आर्थिक विकास में खोजना चाहिए। यदि आर्थिक विकास होगा तो नौकरियां मिलेंगी। काम मिलेगा। यदि आर्थिक विकास की दर, शिक्षा की दर की गति से कम है—तो नौकरियों का प्रश्न ही नहीं उठता।

मूल बात एक ही है कि क्या हममें ऐसा राजनीतिक साहस है कि हम शिक्षा को समाज से जोड़ कर उसके आर्थिक तथा दार्शनिक पहलुओं पर विचार करें और कुछ कठोर निर्णय लें? ❖

स्तवन : भक्ति नहीं, व्यक्ति नहीं; आंतरिक विकास

पृष्ठ 24 का शेष

स्वरूप सामने रहने से राग-द्वेष- जन्य विकारों का शमन स्वतः हो जाता है और मनुष्य की आत्मा आध्यात्मिक विकास के सोपान पार करने लगती है।

अतः विनय, निष्ठा और श्रद्धा के साथ महान आत्माओं की स्तुति आदि के माध्यम से उनका उत्कीर्तन करने से न केवल चित्तस्थैर्य और मन को शांति ही प्राप्त होती है, बल्कि आत्मा का सम्यक् विकास भी होता है और उसमें पंच परमेष्ठी के गुण समाविष्ट हो जाते हैं। ❖

संदर्भ ग्रंथ :

1. आवश्यक भाष्य 46/ 2. आयारो की अर्हत् वाणी —श्लोक 78/ 3. आचारांग श्रुत स्कंध-1 : अध्ययन 5, उद्देशा 4, सूत्र 547/ 4.उत्तराध्ययन-अध्ययन 3 : श्लोक 12/ 5. आचारांग श्रुत स्कंध-2 : 15/1/ 6. विवेकानंद साहित्य-खंड 4: पृ. 186/ 7. अभिधानचिंतामणि/सत्तरिसयठाणवृत्ति-गाथा: 192-193/ 8. भगवती सूत्र :12/9/ 9. आवश्यक सूत्र-अध्ययन : 6 ❖❖

‘चारों तरफ घबराहट थी। उस आलीशान भवन की छत पर हाहाकार मचा हुआ था। जिसे देखो, वही हाथ ऊपर उठाकर चिल्ला रहा था। उस चीख-पुकार को सुनकर रास्ता चलते लोग भी रुककर ऊपर देखने लगे थे। ‘वरली-सी-फेस’ पर दौड़ने वाली शानदार गाड़ियों की कतार ऐसे रुक गई, जैसे किसी ने खतरे की जंजीर खींच दी हो। भौंपू बजने लगे। कोलाहल की कोई हद न रही। उधर फास्टर फेणे के साथ ‘बैलून’ ऊपर चला जा रहा था। सिर्फ ऊपर ही नहीं, बल्कि हवा के कारण वह पश्चिम की ओर खिसक रहा था। विज्ञापन के लिए होने पर भी ‘बैलून’ काफी मजबूत था। वह बढ़िया मोटे और लचीले प्लास्टिक से बना हुआ था। उसका आकार इतना विशाल था कि उसके अंदर भरी हुई हवा से बन्या जैसा मामूली लड़का बड़ी आसानी से उड़ाकर ले जाया जा सकता था।’

नंदू, फास्टर फेणे और शरारत

□ बी. आर. भागवत □

नंदू नवाथे वरली में रहता था। वह पक्का मुंबई वाला था और बनेश उर्फ फास्टर फेणे पूना के विद्या भवन में पढ़ता था, परंतु ठाट ऐसे मानो सारी दुनिया उसी की हो। उस शैतान लड़के से उसकी मुलाकात उसके घर पर होगी, यह बात नंदू को विचित्र संयोग ही लगी। लेकिन, फास्टर फेणे की तकदीर में इस विचित्र संयोग की तकलीफें उठाना लिखा था और वह भी नंदू के कारण।

मैंने यह इसलिए कहा कि नंदू के घर बन्या (बनेश उर्फ मास्टर फेणे) अचानक मेहमान बनकर नहीं आया था। मेहमान बनकर जाए इतना परिचय उनका कहां था? फास्टर फेणे को उसकी धड़धड़ाती साहस गाड़ी के कारण अन्य लोग जैसे जानते थे, वैसे ही नंदू भी उसे जानता था। और, बन्या भी नंदू नवाथे को जानता था, तो उसके शब्दजाल के कारण। शून्य से विश्व निर्माण करने की करामात का अगर कोई जानकार था, तो नंदू ही। इन दो वीरों की पहली भेंट नंदू के घर से नजदीक एक आलीशान मकान की छत पर हुई।

उस जगह लड़के-लड़कियों का मानो कोई सम्मेलन हो रहा था। मशहूर खोका दवाई कंपनी ने किशोर कलाकारों के लिए एक मजेदार प्रतियोगिता घोषित की थी। ‘जॉक’ नाम की खांसी की अपनी गोलियां लोकप्रिय करने के काम में वे लोग लगे हुए थे। उसी का नतीजा था कि उस ऊंचे मकान की छत के ऊपर सैकड़ों गुब्बारे तैर रहे थे। उन गुब्बारों पर चित्र और अक्षर चित्रित करने की इच्छा से सैकड़ों बाल-कलाकार वहां पालथी मारे बैठे थे।

बालकथा

ना! ना!! पालथी मारकर कहना गलत होगा। इन कलाकारों को खड़े-खड़े ही अपनी कला का परिचय

देना था। वह भी हिलते-डोलते कैनवस पर या यों कहिए कि प्लास्टिक पर। उस विशाल छत पर बच्चों की कई कतारें थीं। एक कतार पूरब की ओर मुंह किए खड़ी थी, तो दूसरी कतार पश्चिम की ओर मुंह किए खड़ी थी। इसका कारण यह था कि कोई किसी की नकल न करे।

कंपनी ने बच्चों से कहा था कि वे अपने-अपने गुब्बारे पर कोई छोटा-सा सुंदर चित्र बनाएं और लाल रंग से उसके योग्य कोई नारा लिखें। नारा अधिक से अधिक पंद्रह शब्दों में हो। उस नारे में 'जॉक' गोलियों की तारीफ में कोई बात कही जाए। फिर कंपनी के परीक्षक उनमें से श्रेष्ठ नारे का चुनाव करेंगे। प्रथम आने वाले को पुरस्कार मिलेगा और उसका चित्रित किया हुआ चित्र तथा वाक्य एक बड़े भारी गुब्बारे पर छापकर वह गुब्बारा बड़ी शान से आसमान में छोड़ा जाएगा। सारे मुंबई में 'जॉक' गोलियों का विज्ञापन होगा और बाल कलाकार की कला का भी।

कंपनी का वह रोबदार विशाल गुब्बारा छत के बीचोंबीच खींची गई रस्सी पर सीधा खड़ा था।

बनेश याने फास्टर फेणे छुट्टियों में अपनी मौसी के यहां माटुंगा आया हुआ था। अखबार में विज्ञापन देख कर उसे भी उस प्रतियोगिता में भाग लेने की इच्छा हो गई थी।

—'मैं कोई संत ज्ञानेश्वर नहीं'—उसने बूआ से कहा था—'हजार पदों की रचना करना मेरे बस की बात भी नहीं। पर, दस शब्दों का वाक्य लिखने के लिए किसी महान लेखक की आवश्यकता भी नहीं।'

—'समझ गई। तुम ही हो फास्टर फेणे, पर जो-कुछ भी वाक्य लिखो, वह मन को मोहने वाला हो, अच्छा खासा चटपटा हो। बेकार कुछ···खाक-खाक···' बोलते-बोलते बूआ को खांसी आ गई। 'जॉक' को पहला ग्राहक मिल गया।

'टटॉक!'—बन्या की आंखें गोल होकर बूआ की ओर देखने लगी। और जीभ तालू से चिपककर उसके मुंह से निकला।

—'क्या हुआ रे? खाक-खाक...'

—'आइडिया सूझा है! मेरा चित्र होगा गले में अटका हुआ मेढक और वह चिल्ला रहा होगा 'खॉक खॉक' और आगे 'टटॉक!' याने उसका मतलब होगा 'इलाज मिल गया'। फिर आगे के शब्द होंगे—'मुंह में हॉक एक ही जॉक! सारी खांसी बिलकुल खाक!'—देखो, पंद्रह शब्द भी नहीं लगे!'

—'डोंट टॉक'—कहकर बूआ खांसते हुए चली गई।

× × ×

और, अब छत पर वह प्रतियोगिता हो रही थी। नंदू नवाथे भी वहीं बैठा था। याने खड़ा था। नंदू दिल का चाहे जितना साफ हो, उसे हेरा-फेरी करने की बुरी आदत थी। वह सुनाने लगता तो उसमें खो जाता था कि वह क्या कह रहा है और वही बात भूल भी जाता था। अनजाने में ही वह झूठ बोल जाता था।

उसका झूठ पकड़ा जाता, तब शर्मिंदा होकर डूब मरने की सी उसकी हालत होती। उधर फास्टर फेणे के साहसिक कार्य दिनों-दिन बढ़ते जा रहे थे। उन्हें सुनकर नंदू जल उठता था।

—'बहुत सिर चढ़ गया है, वह फास्टर फेणे'—नंदू खीझकर कहता—'मानो उसके जैसा साहसी बच्चा इस दुनिया में कोई है ही नहीं। सच बात तो यह है कि साहस दिखाने का उसे मौका मिल जाता है और हमें मिला नहीं। फास्टर फेणे जहां भी जाता है, वहां मुश्किलें मानो हर कदम पर मौजूद रहती हैं।'

—'उसे सलामी देने के लिए!'—उसका दोस्त फिसफिसे बोला।

—'हमें वह मिलती ही नहीं हैं!'

—'इसलिए तुम लोग आफत में फंस जाने का ढोंग रचाते हो, कोई किस्सा गढ़ते हो।'—मित्र चुटकी लेते और गुस्से से 'हटो' कहकर नंदू चुप हो जाता। पर, मन-ही-मन वह फास्टर फेणे से जलता रहता। उसका मन बार-बार यही कहता कि जैसे भी हो, कुछ भी करके इस लड़के को सबक सिखाना होगा।

आज वह प्रतियोगिता में आया था। वहीं उससे

मुलाकात होगी, यह बात उसने सपने में भी न सोची थी। अपने गुब्बारे पर उसने 'श्रीमान ओक' नाम के काल्पनिक व्यक्ति का चित्र बनाया था और अब उसका 'ब्रश' वहां लाल रंग से नारा लिख रहा था।

'कितना ही खांसो···कितना ही फांसो···'—और फिर उसकी प्रतिभा की गाड़ी अड़ गई थी। आगे क्या लिखा जाए? यहां झूठ बोलकर काम चला लेने वाली बात नहीं थी। यह थी, सीधी खुली प्रतियोगिता···।

ब्रश मुंह में दबाए, माथे पर बल डाले वह कुछ 'सूझने' की आशा से आस-पास देख रहा था। दूसरे बच्चों के गुब्बारे भी निहार रहा था। उसी समय उसे चारखाने वाली कमीज, बालों की जुल्फें और वे बड़ी-बड़ी आंखें दिखाई दीं। मजे की बात यह कि वे आंखें भी उसी की ओर देख रही थीं।

—'ओ माय गॉड! यह और किसकी मूर्ति हो सकती है? यह तो वही 'फेमस' फास्टर फेणे है!'—नंदू बुदबुदाया। पर, वह बुदबुदाना इतना जोर से था कि बन्या ने सुन ही लिया।

—'हलो! आपकी तारीफ?'—उसने पूछा।

—'मुझे नंदू नवाथे कहते हैं।'—नंदू ने अकड़ से अपना परिचय दिया। उसने सोचा, इतना बतला देना काफी है। यह जनाब हैं किस मूली की जड़।

—'सैड टू मीट यू।'—फास्टर फेणे ने कहा—'मिस नंदिनी नवाथे।'

—'मिस! व्हाट डू यू मीन? यह क्या बदतमीजी है?'—मुट्ठी भींचते हुए नंदू गुर्राया।

—'अरे!··· हां, हां···!! तुम मिस न होकर मास्टर हो?'—बन्या दांत दिखाते हुए बोला—'मैं क्या जानूं? आजकल कई लड़कियां 'बेल-बाटम' पहनती हैं, बाल कटवाती हैं। मानो लड़के हो! पर, लड़के कभी 'लिपस्टिक' नहीं लगाते!'

—'लिपस्टिक?'—नंदू चौंक उठा। उसने होंठों पर हाथ फेरा। तभी उसकी समझ में आया कि उस 'ब्रश' ने यह गोलमाल किया है। दोनों होंठ लाल रंग से रंग गए हैं।

पास के कई कलाकार यह बात देख रहे थे। नंदू की फजीहत देखकर कुछ प्रतिस्पर्धी ठहाका मारकर हंसने लगे थे, ···तो कुछ ने आई हुई हंसी रोककर फिर अपने काम की ओर ध्यान देना शुरू किया था।

नंदू शर्म से गड़ा जा रहा था। इतने में एक निरीक्षक महोदय वहां आ टपके। नंदू को मानो काटो तो खून नहीं। निरीक्षक महोदय ने सबको डांटा और नंदू की ओर खास तौर पर गुस्से से देखा।

—'तुम प्रतियोगिता में भाग ले रहे हो या मेकअप कर रहे हो?'—उन्होंने गुर्राते हुए पूछा।

—'सॉरी सर!'—बांह से होंठ पोंछते हुए नंदू गुर्राया। उसे भी अब गुस्सा आ गया था। वह मन ही मन कह रहा था—'इस फास्टर फेणे के बच्चे का मिजाज ठीक करना ही होगा।'

हरेक का गुब्बारा चित्रित हो गया। हरेक ने अपने नाम व पता का 'लेबल' उसमें लगाया। निरीक्षक महोदय गुब्बारे उठाकर कमरे में ले जाने लगे। देखभाल करने वालों में से कोई भी अब वहां नहीं था। सारे उम्मीदवार 'बच्चे' कंपनी के उस विशाल गुब्बारे के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गए थे और गर्दन ऊंची करके गुब्बारे के चारों ओर चक्कर काटते हुए तारीफ की नजरों से उसे देखने लगे थे। तेज हवाएं चल रही थीं। सफेद नीली धारियोंवाला वह गुब्बारा उन पर तैर रहा था। उसके बदन पर इस समय दो ही शब्द लिखे हुए थे—खोका और जॉक। सबकी नजरें ऊपर निहार रही थीं। इसलिए नीचे पैरों की ओर क्या हो रहा है, इसकी ओर किसी का भी ध्यान नहीं था। बन्या भी ऊपर ही देख रहा था। गुब्बारे की रस्सी में दो-तीन पीतल की कड़ियां थीं। वह उन्हें भी देख रहा था। सिर्फ एक ही लड़के का ध्यान नीचे की ओर था। नंदू नवाथे चट से झुका और पट से उसने बैलून की वह मोटी रस्सी ढीली कर दी।

—'कितनी मोटी रस्सी है!'—फास्टर फेणे उस रस्सी की ओर ऊपर देखते हुए बोला।

—'मोटी और मजबूत। नायलॉन की है।'—नंदू ने बताया। वह बन्या के बिलकुल नजदीक खड़ा था।

—'हाथ लगाकर देखो।'

बन्या ने उस मोटी रस्सी की एक कड़ी पकड़ी और उसी दम उधर नंदू ने रस्सी की गांठ पूरी खोल दी। रस्सी के ढीली होते ही हवा के झोंके के साथ बैलून अचानक ऊपर उड़ने लगा। फास्टर फेणे का हाथ कड़ी में अटका हुआ था। वह इतनी जोर से घसीटा गया कि अपना हाथ वह जल्दी से छुड़ा न सका। हाथ जब कड़ी से न छूटा, तब वह चकरा गया। उसकी समझ में ही नहीं आया कि क्या किया जाए। उसने दूसरे हाथ से भी रस्सी पकड़ ली। अपने कमजोर हाथों की पूरी ताकत लगाकर उसने 'बैलून' नीचे खींचा। पर, उस बड़े भारी 'बैलून' की ताकत बहुत ज्यादा थी। उससे लोहा लेना इस सींकिया पहलवान के बस की बात नहीं थी। 'बैलून' झट से ऊपर चढ़ता गया, ऊंचा उठता गया··· और फास्टर फेणे भी उससे लटकता हुआ ऊपर उठता गया।

'बैलून' के साथ फास्टर फेणे का ऊपर उठ जाना एक अनोखी घटना थी। उस घटना की जिम्मेदारी जिस पर थी, वह नंदू अगर उस बात को बतादे तो लोग उसे हमेशा की तरह झूठ समझते। नंदू का डर के मारे बुरा हाल हो गया। उसने क्या करना चाहा था और यह क्या हो गया? फास्टर फेणे से वह चाहे जितना नाराज हो, उसे आसमान में उड़ा देने की बात उसने बिलकुल नहीं सोची थी। किसी को तंग करने में उसे बड़ा मजा आता था। प्रर, यह तो कुछ अजब ही बात हो गई।

—'बाप रे,··· उड़ गया!···लड़का आसमान में चला गया···'

—'अ-र-र-!लड़काउड़चला!···पकड़ो···पकड़ो उसे!'

—'रस्सी खींचो···खींचो उसे! पुलिस-पुलिस! फायर···ब्रिगेड!'

चारों तरफ घबराहट थी। उस आलीशान भवन की छत पर हाहाकार मचा हुआ था। जिसे देखो, वही हाथ ऊपर उठाकर चिल्ला रहा था। उस चीख-पुकार को सुनकर रास्ता चलते लोग भी रुककर ऊपर देखने लगे थे। 'वरली-सी-फेस' पर दौड़ने वाली शानदार गाड़ियों की कतार ऐसे रुक गई, जैसे किसी ने खतरे की जंजीर खींच दी हो। भौंपू बजने लगे। कोलाहल की कोई हद न रही।

उधर फास्टर फेणे के साथ 'बैलून' ऊपर चला जा रहा था। सिर्फ ऊपर ही नहीं, बल्कि हवा के कारण वह पश्चिम की ओर खिसक रहा था।

विज्ञापन के लिए होने पर भी 'बैलून' काफी मजबूत था। वह बढ़िया मोटे और लचीले प्लास्टिक से बना हुआ था। उसका आकार इतना विशाल था कि उसके अंदर भरी हुई हवा से बन्या जैसा मामूली लड़का बड़ी आसानी से उड़ाकर ले जाया जा सकता था।

फास्टर फेणे के पसीना बहने लगा। नीचे देखो तो सिर चकरा जाए, ऐसी हालत थी। वह घबरा गया था।

उसके हाथ सुन्न होने लगे थे। उसने एक हाथ से कसकर रस्सी पकड़ रखी थी। दूसरा हाथ कड़ी में उलझा हुआ था। हाथ तो छूटना नहीं चाहिए। हाथ छूटते ही सारा मामला खत्म हो जाएगा! जमीन पर गिर कर टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। यह वह जानता था।

फिर अब क्या किया जाए? हाय मां! चक्कर आ रहा है! अब मुझसे नीचे नहीं देखा जाता! हे भगवान...!

× × ×

सुना है, गुब्बारे में एक चाबी होती है। उसे घुमाकर 'बैलून' की हवा कम की जा सकती है और 'बैलून' नीचे आ जाता है। पर, यह गुब्बारा वैसा थोड़े ही है? इसमें चाबी-वाबी कुछ नहीं है। इसकी हवा कम करना बन्या के बस की बात नहीं।

तो फिर बस में क्या है? कुछ भी नहीं। उसकी जेब में एक प्यारी गुलेल है। पिपरमिंट की सख्त गोली भी होगी, पर गुलेल जेब से निकालना, खींचना और मारना हो तो उसके लिए दोनों हाथ खाली चाहिए। हाथ छुड़ाते ही किस्सा खतम! बिलकुल चटनी।

ओ! मां·····हे भगवान·····!!

फास्टर फेणे को लगा कि उसे चक्कर आ रहा है?

एक काम करूं?·····ट्-ट-टॉक्! करके देखा जाए। जो कुछ होना हो सो हो, फिर।

बन्या ने एक हाथ से कड़ी कसकर पकड़ ली। उसका दूसरा हाथ कमर की ओर गया। कमर का पट्टा

एक हाथ से निकालना कोई आसान बात नहीं थी। काफी तकलीफ हुई उसे। पर, जैसे-तैसे निकाल लिया।

पट्टा निकल गया। बायां हाथ कड़ी में था और दूसरे हाथ में वह पट्टा।

बन्या ने पट्टे की नोक पकड़ी और चाबुक की तरह उसे घुमाया। सप्-सप्-सप्।

पट्टे का बक्कल गुब्बारे पर जोर-जोर से मारा। एक, दो, तीन, चार···छः। वह पूरी ताकत लगाकर गुब्बारे पर पट्टे से चोट मारता रहा कि कहीं जाकर बक्कल की पिन 'बैलून' में घुस गई। बैलून फट गया और अंदर की हवा सर्र से बाहर निकलने लगी।

गुब्बारा आहिस्ते-आहिस्ते नीचे उतरने लगा। नीचे मछली पकड़ने वाली नौकाएं घूम रही थी। पर, उन मेहनती मछुओं की नजरें समुंदर की मछलियों पर नहीं थीं। वे सारे ऊपर आसमान की ओर टकटकी लगाए देख रहे थे। आसमान में गोते लगाने वाले उस बदनसीब बच्चे की ओर देख रहे थे। क्या होगा इस बच्चे का? कहां जा गिरेगा यह? उसे बचाने के लिए क्या हम कुछ भी नहीं कर पाएंगे?

पर, जब गुब्बारे को उनकी तरफ ही नीचे उतरता देखा तो वे फूले न समाए। अपनी-अपनी नौकाएं इधर-उधर हटाकर उन्होंने गुब्बारे के लिए जगह खाली कर दी। उस खाली जगह पर उन्होंने अपने जाल फैला दिए और जल्दी से उन्हें खींचकर तान दिया। बच्चे को सहारा होगा। डूबने का डर नहीं रहेगा।

और, गुब्बारा ठीक उसी जगह पर उतरा। मछुओं के जाल में मानो मछली आ गई। अब मैं मरूंगा नहीं, जीऊंगा इसका विश्वास होते ही वह मछली बेहोश हो गई।

'टॉक् मैं कहां हूं?'

—'खाक्! घर पर ही हो तुम बन्या!'—बूआ बोल रही थी—'अब डरने की कोई बात नहीं, ऐसा इन्होंने कहा है।'

इन्होंने! यानी डॉक्टर फूफाजी ने! बूआ के पति मुंबई के नामी डॉक्टर थे।

—'तुम्हें कहीं चोट तो नहीं आई बन्या?'

—'नहीं, बिलकुल नहीं! पर सारा किस्सा याद आते ही जान गले में आ जाती है। बूआ यह रो कौन रहा है? किसी की सिसकियों की आवाज आ रही है!'

—'वह है, तुम्हारा दोस्त!'

—'कौन? नंदू? नंदू नवाथे। अरे, तुम्हें क्या हो गया?'

—'बन्या, माफ कर दो मुझे। मेरी वजह से ही यह सबकुछ हुआ है।'

—'तुम्हारी वजह से!!'

नंदू ने अपने अपराध की स्वीकृति दी। उसने कहा—'इतना दुष्ट और गधा लड़का हूं, मैं। मुझे म्राफ कर दो फास्टर फेणे! मुझे पुरस्कार तो मिलने वाला है ही नहीं, पर भूल से मिल गया तो मैं नहीं लूंगा, तुम्हारी कसम!'

बन्या बिस्तर से उठ बैठा। आंखें फाड़कर नंदू की ओर देखने लगा।

इतने में डॉक्टर फूफा अंदर के कमरे से बाहर आए और बोले—'शाबाश मेरे शेर फास्टर फेणे! आ गए होश में? साहबजादे! अगर तुम जल्दी नीचे न गिरते तो पता है क्या होता? तुम्हारे लिए मुंबई की सारी 'एयर-फोर्स' दौड़कर जाने वाली थी। चारों तरफ फोन हो चुके थे। और, सुनो! अभी खोका कंपनी से फोन आया है। उन्होंने तुम्हारे लिए एक खास पुरस्कार घोषित किया है। इस गुब्बारे की उड़ान के कारण उनकी 'जॉक' गोलियों का ऐसा प्रचार हुआ है, जैसा इससे पहले कभी नहीं हुआ था। और, यह सब तुम्हारी वजह से हुआ।'

—'नहीं! यह सब नंदू नवाथे की वजह से।'—कहते हुए बन्या की आंखों में शरारत भरी मुस्कान तैर गई और नंदू की आंखों में आंसू भरे थे। ❖

मराठी से अनूदित : **मंजु गुप्ता**

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

SMT MACHINES

INFRASTRUCTURE

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

SMT

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

Fine Strokes (09866297098)

जैन भारती, सितंबर, 2012 ■ प्रेषण दिनांक 28 अगस्त, 2012
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन

बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन

बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन

बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।